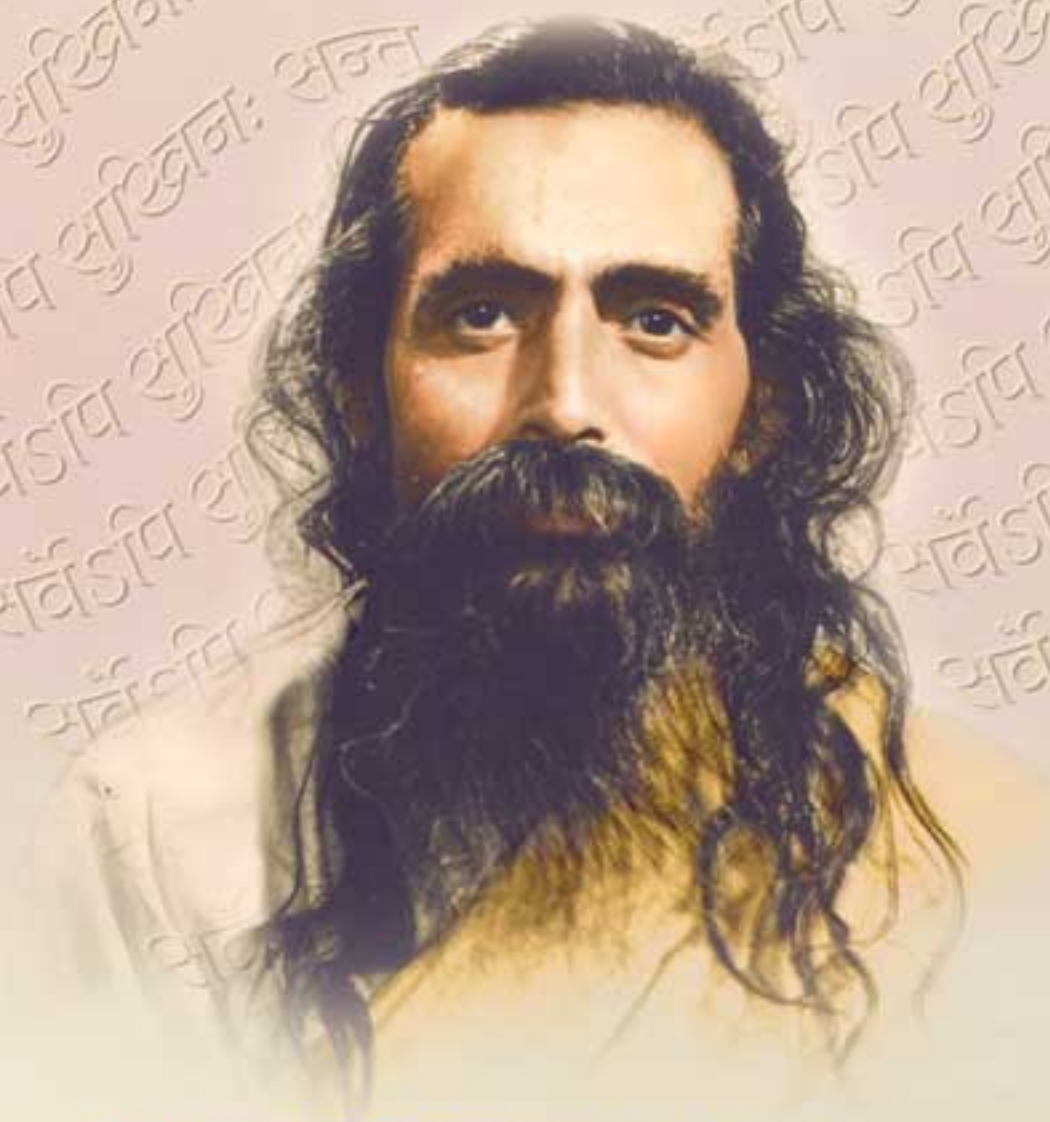


श्री गुरुजी का आर्थिक चिन्तन



- डॉ. बजरंग लाल गुप्ता

श्री गुरुजी का आर्थिक चिन्तन

- डॉ० बजरंग लाल गुप्ता

मनोगत

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक पूजनीय श्री गुरुजी (श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर) शैक्षिक दृष्टि से प्राणिशास्त्र में एम.एससी. थे। मन उनका अध्यात्म में रमता था, अतः उन्होंने रामकृष्ण मिशन के स्वामी अखण्डानन्द जी से दीक्षा भी प्राप्त की थी। कर्मक्षेत्र की दृष्टि से उन्होंने जीवन का सर्वाधिक समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से राष्ट्र आराधना और समाज संगठन के कार्य में लगाया। इस पृष्ठ भूमि के कारण किसी के भी मन में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ऐसे श्री गुरुजी का आर्थिक विषयों से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? प्रा. अनन्त काणेकर ने श्री गुरुजी से हुई भेंट के बारे में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें से इस प्रश्न का काफी कुछ उत्तर मिल सकता है। वे कहते हैं, “श्री गुरुजी केवल सामाजिक समस्याओं का ही चिन्तन नहीं करते थे, आर्थिक समस्याओं का उनका चिन्तन भी उतना ही अभ्यासपूर्ण होता था। श्री गुरुजी के विषय में मेरे मन में कभी कोई गलतफहमी नहीं थी। उनसे मिलने की मेरी बड़ी इच्छा थी। यह इच्छा एक बार पूर्ण भी हुई। ‘नवयुग मेंशन’ में श्री फड़के के निवास स्थान पर हमारी दो घंटे तक बातचीत हुई। श्री गुरुजी से मेरी बातचीत आर्थिक समस्याओं पर हुई। मैं समाजवादी, कुछ अधिक वामपंथी था, फिर भी श्री गुरुजी ने आर्थिक विषयों पर जो विचार व्यक्त किये, उनसे मेरा कहीं कोई मतभेद उत्पन्न नहीं हुआ।”

पिछले वर्षों के दौरान दुनिया विकास के जिस रास्ते पर चली, उसने उसे कहाँ पहुँचाया? इसमें तो कोई दो मत नहीं कि आज संसार पहले की तुलना में अधिक सम्पन्न हुआ है और उसने अनेक क्षेत्रों में कई उपलब्धियाँ हासिल की हैं? मनुष्य की सुख-सुविधा एवं भोग-विलास के अनेकानेक साज-सामानों के ढेर में वृद्धि भी हुई है। किन्तु इन सब उपलब्धियों के बावजूद संसार आज अनेक अभावों व समस्याओं से ग्रस्त व त्रस्त है और नित नई समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं। भारत

१. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, भारतीय विचार साधना, नागपुर, खण्ड ३, पृ० १५६

की स्थिति तो इस दृष्टि से और भी अधिक खराब है। विकास के बारे में जो सोचा था वह न होकर कुछ और ही हो गया है और जो हो गया है वह बहुत ही डरावना चित्र प्रस्तुत करता है तथा भविष्य और भी अधिक अंधकारमय दिखाई देता है। देश की काफी बड़ी जनसंख्या भूख, गरीबी, बेकारी एवं गैर-बराबरी की समस्याओं से पीड़ित है। मशीन चालित ऊर्जाभक्षी वर्तमान तकनोलॉजी ने समूचे प्राणीमात्र के लिए ही अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया है। जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण और मिट्टी प्रदूषण के कारण हमारे चारों ओर प्रदूषित पर्यावरण का घेरा गहरा होता जा रहा है। भोग और भौतिकता पर आधारित सामाजिक आर्थिक प्रणालियों के परिणाम स्वरूप नैतिक व मानवीय मूल्यों में ह्रास, सामाजिक विघटन, तनाव, संघर्ष व हिंसा में वृद्धि, तथा सुख शांति का अभाव जैसी समस्याएँ और अधिक गहराती जा रहीं हैं।

अतः अनेक असाधारण उपलिब्धियों के बावजूद संसार के मनीषी विद्वान आज पश्चिम की वर्तमान सामाजिक आर्थिक संरचना से संतुष्ट नहीं हैं और वे इसके स्थान पर किसी अधिक अच्छी संरचना को लागू करना चाहते हैं। आज सब प्रकार के “वाद” मनुष्य की आधारभूत आर्थिक सामाजिक समस्याओं का सुन्दर, सुख कारक एवं शांतिपूर्ण समाधान प्रस्तुत कर पाने में अपने को असहाय पा रहे हैं। विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों, नीतियों, दर्शन एवं दृष्टिकोणों के दीर्घकालीन अनुभवों के बाद आज सम्पूर्ण संसार एक नये विकल्प की खोज में है। हमें वर्तमान में प्रचलित अर्थशास्त्र की प्रस्थापनाओं, परिभाषाओं, प्रमेयों एवं प्रतिमानों की परिधि से बाहर निकलकर शाश्वत मानवीय मूल्यों के प्रकाश में नये वैकल्पिक वैचारिक-सैद्धान्तिक अधिष्ठान एवं व्यवहारमूलक मान्यताओं की तलाश करनी है। विकल्प की इस तलाश में हिन्दू दर्शन एवं हिन्दू परम्परा का चिन्तन सहायक हो सकता है। श्री गुरुजी इस हिन्दू चिन्तन परम्परा के ही प्रतिनिधि विचारक-चिन्तक एवं कर्मशील मनीषी थे।

श्री गुरुजी किसी ‘इज्म’ के घेरे में बन्द होकर विचार नहीं किया करते थे। वे तो समाज जीवन की समस्याओं का एकात्म एवं समग्र रूप से विवेचन- विश्लेषण कर हिन्दू तत्त्वज्ञान के आधार पर समाधान प्रस्तुत करने के पक्षधर थे। उनकी इस चिन्तन धारा को समझने की दृष्टि से एक घटना बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९५२ की बात है। चन्द्रपुर में एक सज्जन ने प. पू. श्री गुरुजी से पूछा संघ किस वाद (इज्म) का समर्थन करता है? क्या यह पूँजीवादी या फासिस्ट है, या समाजवाद तथा साम्यवाद का समर्थक है? श्री गुरुजी ने उत्तर दिया इनमें से किसी भी ‘वाद’ का नहीं। संघ ‘हिन्दुत्व’ पर आधारित है और ‘हिन्दुत्व’ का समर्थक है। उन सज्जन ने कहा- लेकिन हिन्दुत्व तो कोई ‘वाद’ नहीं है, Hinduism is no ‘ism’, it is not internationally knownAsA socialAnd economic philosophy. श्री गुरुजी ने उत्तर में केवल एक किस्सा सुनाया। उन्होंने कहा, एक भारतीय किसान विदेशियों को हाथी के बारे में बता रहा था। विदेशियों ने हाथी कभी भी नहीं देखा था उन्होंने पूछा हाथी होता कैसा है? घोड़े के समान, गधे के, बैल के, या ऊँट के समान? किसान ने कहा किसी के भी समान नहीं, वह अपने ही समान होता है। विदेशियों ने कहा- लेकिन हमने तो ऐसा जानवर अपने देशों में नहीं देखा। किसान ने उत्तर दिया, लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं होता कि हाथी नाम का कोई जानवर नहीं होता या उसकी महिमा नगण्य है। यह किस्सा सुनकर संघ का ‘इज्म’ पूछने वाले सज्जन हँस पड़े और निरुत्तर हो गए।”^२

यह सच है कि आधुनिक अर्थ में श्री गुरुजी कोई अर्थशास्त्री अथवा आर्थिक विषयों के विशेषज्ञ नहीं थे। किन्तु हमारी सुखी जीवन की कल्पना, देश की सर्वांगीण उन्नति एवं राष्ट्र के परम वैभव, विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रचलित पूँजीवाद, समाजवादी, साम्यवादी प्रणालियों तथा हिन्दू चिन्तनाधारित विकल्प आदि के सम्बन्ध में श्री गुरुजी ने समय - समय पर जो विचार प्रकट किये हैं, वे निश्चित ही मननीय-विचारणीय हैं। उनके विचारों से प्राप्त दिशाओं के आधार पर निश्चित ही एक अधिक स्वस्थ एवं समग्र अर्थदर्शन, अर्थतंत्र एवं अर्थव्यवहार के निर्माण में सहायता प्राप्त हो सकती है। इसी दृष्टि से श्री गुरुजी के आर्थिक चिन्तन को इस लघु पुस्तिका के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

----- लेखक

श्री गुरुजी का आर्थिक चिन्तन

सुख की परिकल्पना : पश्चिमी चिन्तन एवं हिन्दू चिन्तन-

मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है? अथवा मनुष्य अपने सामने जीवन का लक्ष्य कौन सा रखे? इस बारे में लगभग सभी लोग इस मत के हैं कि सुख ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। पर प्रश्न यह है कि सुख से आशय क्या है और मनुष्य को यह सुख कैसे मिल सकता है? इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी के अनुसार पश्चिमी चिन्तन और हिन्दू दर्शन पर आधारित भारतीय चिन्तन में मूलभूत अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्री गुरुजी ने इस बात को अनेक प्रकार से समझाया है कि सुख के बारे में पश्चिमी विचार अधूरा, एकांगी, अस्थायी एवं क्षणभंगुर है, वस्तुतः तो वह सुख का क्षणिक आभास देते हुए अन्ततः दुखकारी ही है। इसके विपरीत सुख की हिन्दू परिकल्पना समग्र, संतुलित एवं अधिक स्थायी है।

पश्चिमी राष्ट्रों का लक्ष्य - केवल भौतिक सुख -

पश्चिमी राष्ट्रों ने सुख की परिकल्पना केवल भौतिक एवं ऐहिक सुख के रूप में ही की है। इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी ने बतलाया है- “दुनिया भर की राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्र व्यवस्था में मनुष्य मात्र के जीवन का लक्ष्य ऐहिक सुख समृद्धि माना हुआ है। अर्थात् खाना-पीना, वस्त्र प्रावरण, निवास के स्थान, सुखोपभोग, वासना की वृद्धि, वासना संतुष्ट करने के साधनों की वृद्धि, उन साधनों की उपलब्धि, भिन्न-भिन्न मनोविनोद के साधन, यही जगत् के सब देशों में सर्वसाधारण लक्ष्य रखा गया है, ऐसा दिखता है। जिसका बड़ा प्रगतिमान वर्णन किया जाता है, वहाँ सामान्य आदमी के यहाँ भी टेलीविजन, रेडियो, मोटर, मोटर साइकिल आदि ऐहिक सुख के लक्षण ही प्रगति के मापदण्ड माने जाते हैं। पर ये वास्तव में मानव की प्रगति के मापदण्ड हैं क्या ?”

भौतिक सुख की यह अवधारणा अधूरी है और यह अंततोगत्वा असंतोष, अशान्ति एवं संघर्ष का ही

१. श्री गुरुजी समग्र, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, खण्ड २, पृ० - २२८

कारण बनती है, इस बात को समझाते हुए श्री गुरुजी कहते हैं कि मनुष्य मात्र को सुख की प्राप्ति करवा देने का ध्येय सामने रखकर चलने का दावा करने वाली बहुत सी जीवन रचनार्ये आज संसार में विद्यमान हैं। भौतिक कामनाओं की पूर्ति में ही सुख है, इसी बात को लेकर अनेक आधुनिक विचार प्रणालियाँ उत्पन्न हुई हैं। परन्तु कुछ काल के लिए होने वाली वासनापूर्ति आगे चलकर मनुष्य को अशान्त करती हुई दिखाई देती है।

श्री गुरुजी के अनुसार इसके कई कारण हैं- (i) एक तो विषय वासनाओं की पूर्ति सर्वथा असम्भव है। उनको तुष्ट करने की जितनी ही चेष्टा की जाती है, उतनी ही वे बढ़ती हैं। वे आगे कहते हैं कि “अनुभव यह बताता है कि मनुष्य दैहिक आनन्द प्राप्त करने का जितना अधिक प्रयास करता है, उसकी भूख उतनी ही तीव्र होती जाती है। उसे कभी संतुष्टि का अनुभव नहीं होता। इच्छाओं के तुष्टिकरण की चेष्टा जितनी अधिक होगी, उतना ही असंतोष बढ़ेगा। भौतिक सुख साधनों का संग्रह

करने की इच्छा जितनी ही प्रबल होगी, निराशा भी उतनी अधिक होगी। हमारे शास्त्रों ने घोषणा की है- 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' (महा० आदिपर्व)। विषय भोगों से कामनाओं का शमन नहीं होता। शरीर के जीर्णशीर्ण हो जाने पर भी इच्छायें पूर्ववत् युवा बनी रहती हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है- 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' (वैराग्य शतक)- यही वास्तविक दुर्दशा है, जिसमें आधुनिक मानव स्वयं को फँसा हुआ पाता है।¹³ इस प्रकार वासनापूर्ति असम्भव होने के कारण मानव जीवन दुःखी होता हुआ दिखाई देता है। (ii) भौतिक पदार्थों से अपनी वासनापूर्ति में लगे मनुष्य को प्रारम्भ में भले ही कुछ संतुष्टि मिले पर, "आगे चलकर वह समझ जाता है कि इन आपाततः सुख देने वाली वस्तुओं में वास्तविक सुख देने की कोई शक्ति नहीं है। सुख तो अपने ही अन्दर समय-समय पर उठने वाली वासना-तंत्रों की शांति से होता है। यानि सुख बाह्य वस्तु में नहीं, वासना पूर्ति में भी नहीं ; किन्तु वासना के शांत होने में है।"¹⁴ (iii) श्री गुरुजी का यह भी मानना था कि, "व्यक्ति व समाज के लिए वासनाओं का उत्तरोत्तर

२. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, भारतीय विचार साधना, नागपुर, खण्ड २, पृ० - १६१

३. श्री गुरुजी समग्र, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, खण्ड ११, पृ० - १६

४. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० - १६१

बढ़ते जाना और उस पर सदा असंतोष का बना ही रहना, यही जगत् में बार-बार होने वाले भयंकर युद्धों का प्रमुख कारण है। जगत् में अशांति तथा असुख बनाये रखने में, यही प्रबल कारण है।"¹⁵ इसी बात को विस्तार से समझाते हुए श्री गुरुजी ने कहा है कि, "पश्चिम के सुख की अवधारणा पूर्णतया प्रकृतिजन्य इच्छाओं की संतुष्टि पर ही केन्द्रित है, अतः उनके 'जीवन स्तर को उठाने' का अर्थ भी केवल भौतिक आनन्द की वस्तुओं को अधिकाधिक जुटाना है। इससे व्यक्ति अन्य विचारों एवं एषणाओं को छोड़कर केवल इसी में पूर्णतया संलग्न हो जाता है। भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति की इच्छा धन-संग्रह को जन्म देती है। अधिकाधिक धन प्राप्ति हेतु शक्ति आवश्यक हो जाती है; किन्तु भौतिक सुख की अतृप्त क्षुधा व्यक्ति को अपनी राष्ट्रीय सीमाओं तक ही नहीं रुकने देती। सबल राष्ट्र राज्य शक्ति के आधार पर दूसरों के दमन व शोषण का भी प्रयास करते हैं। इसमें से संघर्ष व विनाश का जन्म होता है। एक बार यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई कि समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती। सभी नैतिक बंधन विच्छिन्न हो जाते हैं। सामान्य मानवीय संवेदनायें सूख जाती हैं। मनुष्य और पशु में अन्तर स्थापित करने वाले मूल्य एवं गुण समाप्त हो जाते हैं।"¹⁶

'सुख' का हिन्दू चिन्तनः अखण्ड सुख - चिरंतन सुख -परम सुखः

भारत में 'सुख' के विषय पर सब पहलुओं से विचार करके एक संतुलित समन्वित दृष्टिकोण अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी कहते हैं -

इस शरीर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतएव-

“यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।”

- इस प्रकार के पूर्णतया जड़वादी विचार से लेकर “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या”। इस पूर्णतया तत्त्व-ज्ञानात्मक सिद्धान्त तक सभी विचार अपने हिन्दू समाज के पूर्व ऋषि मुनियों ने किये हैं।

५. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० - १६१

६. श्री गुरुजी समग्र, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, खण्ड - ११, पृ० - १४

उन्होंने यह अनुभव किया कि सुख की प्राप्ति किसी परलोक में, इस जीवन के अन्त के पश्चात् होगी, ‘अभी कुछ भी नहीं मिलेगा’ इससे किसी का समाधान हो नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ऐहिक जीवन के सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होने पर भी वे चिरकाल तक सुख देने में समर्थ नहीं हैं। सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। कामपूर्ति के समस्त साधन समीप होने पर भी मनुष्य दुखी रह सकता है और ऐहिक सुख-लाभ के किसी साधन के बिना ही मनुष्य चिरन्तन शान्ति का अनुभव कर सकता है। उन्होंने यह भी देखा कि ‘कामपूर्ति के साधनों की विपुलता काम को पूर्ण कर सुख देने के स्थान पर काम की वृद्धि ही करके असमाधान और तज्जन्य दुख को जन्म देती है।’ तथापि इस जीवन में भी सुख मिलने और इस शरीर के अन्त के पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुख सम्पन्न हो, यही मनुष्य चाहता है। यही सोचकर हिन्दू तत्त्वज्ञों ने ‘धर्म’ की व्याख्या ‘यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः’-इस प्रकार धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख, सिद्ध करने के लिए समाज की धारणा करने वाला बतलाया।^{१०}

इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दू तत्त्व चिन्तकों ने मनुष्य की शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं की अनदेखी की थी अथवा वे अपने सुख की कल्पना में सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति को कोई स्थान नहीं देते थे। वे अपने सुख की परिकल्पना को भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं कर देना चाहते थे, वे उसे और भी अधिक व्यापक एवं समग्र बनाने के पक्षपाती थे। इसी बात को स्पष्ट करते हुए श्री गुरुजी ने कहा है कि, मनुष्य के शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की दृष्टि से वस्तुओं का उपभोग करना आवश्यक है। परन्तु मनुष्य उपभोग प्रवृत्तियों में ही न डूबा रहे, इसकी चिन्ता करना भी आवश्यक है। परन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्य को अखण्ड चिरन्तन सुख कैसे मिले? अच्छे कपड़े चाहिए, अच्छी भोज्य वस्तुएँ चाहिए। इन आवश्यकताओं की पूर्ति से आराम मिलता है और उपभोग की इच्छा कुछ तृप्त होती है। परन्तु अनुभव में आता है कि इनकी तृप्ति नहीं होती। जितना उपभोग करते जाओ, उतनी अभिलाषा बढ़ती जाती है। जहाँ उसकी

७. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, भारतीय विचार साधना, नागपुर, खण्ड -२, पृ० - १६३

अभिलाषा और कामना है, वहाँ सुख कहाँ? इस स्थिति में मनुष्य सोंचता है कि अभिलाषाओं को तृप्त करते बैठने से यदि सुख नहीं मिलता, तो कहाँ मिलेगा? सुख तो मिलना ही चाहिए, यही लक्ष्य है। सुखी जीवन प्राप्त किये बिना वह रह नहीं सकता। इस सम्बन्ध में अपने भारतीय विचारकों का मत है कि सुख तो अपने अन्दर ही है। उसी को किसी न किसी प्रकार का बाह्य निमित्त बनाकर हम अनुभव करते हैं। पर सुख बाहर की वस्तु नहीं अपने अन्दर ही है। प्रश्न यह है कि ऐसे सुख

को प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए? इसके बारे में श्री गुरुजी का सुझाव है कि मन को शान्त व स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए।¹⁵

सुख का स्रोत अन्तःकरण में :

सुख का वास्तविक स्रोत अन्तःकरण में है, न कि कहीं बाहर। इसके विषय में हिन्दू दर्शन अकाट्य समाधान प्रस्तुत करता है। संगीत की धुन में खोये व्यक्ति को यदि उसके किसी आत्मीय व्यक्ति की मृत्यु का समाचार दिया जाए, तो संगीत में उसकी सारी रुचि समाप्त हो जाएगी और वह उठकर चला जायेगा। वस्तुतः यदि संगीत में सुख देने की अंतर्निहित क्षमता होती, तो व्यक्ति अपने दुःख को विस्मृत कर संगीत सुख का आनंद लेने में ही लीन रहता, किंतु प्रभाव इसके ठीक विपरीत हुआ। वही संगीत, जो एक क्षण पहले तक आनंद का स्रोत था, अब वितृष्णा का विषय बन गया। इसका तात्पर्य यही है कि सुख का स्रोत प्रतीत होने वाली भौतिक वस्तुएँ निमित्त या साधन मात्र हैं; वास्तविक स्रोत तो अपने अन्तःकरण में विद्यमान है। फिर भी हम भ्रम के कारण भौतिक वस्तुओं की चाह करते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को काटता एवं चूसता रहता है। हड्डी का टुकड़ा चुभने से अपने ही जबड़े से निकले रक्त के स्वाद से वह आनंदित-उल्लसित होता है। उसी प्रकार भौतिक वस्तुएँ हमें सुख देती प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी सुखानुभूति कुछ ही क्षणों के पश्चात् समाप्त होकर हमें निराशा व विषाद के अंधकार में धकेल देती है।

“जब मनुष्य को इस तथ्य की अनुभूति होती है कि सुख भौतिक वस्तुओं में नहीं; वरन् उसके स्वयं के अन्तःकरण में है, तब उसकी दृष्टि भीतर की ओर उन्मुख होगी और उन पदार्थों का

८. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड -२, पृ०- १६७-१६८

आकर्षण उसके लिए शनैः शनैः कम होता जायेगा। इस प्रकार वह भौतिक वस्तुओं के आकर्षण से पूर्णतया मुक्त हो जायेगा। वह मुक्ति की परमावस्था को प्राप्त हो जायेगा।”¹⁶

मनुष्य के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ एवं साधन तथा देश व समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के बारे में विचार निश्चित ही हिन्दू मनीषियों ने किया था। किन्तु वे हमेशा इस बारे में सजग एवं सचेष्ट थे कि मनुष्य के मन एवं व्यवहार को ऊपर उठाकर उदात्तभावों की ओर प्रेरित किया जाये। मनुष्य मन की यह उदात्तता एवं सामाजिक संवेदना ही उसे अधिक स्थायी सुख प्रदान कर सकेगी। श्री गुरुजी इसी विचार-प्रवाह के प्रतिपादक एवं समर्थक थे। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा है कि, मनुष्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित “सब बातों का विचार हमारे पूर्वजों ने भी किया था। समय पर वर्षा होनी चाहिए, पृथ्वी पर धन-धान्य की समृद्धि रहनी चाहिए, समाज को ऐच्छिक सुख-समृद्धि प्राप्त होनी चाहिए, कोई भी दुःखी न रहे-ऐसी प्रार्थना उन्होंने की है, परन्तु उस समय भी उनको अनुभव हुआ कि मनुष्य केवल वासनाओं का पुतला नहीं है। वासनाओं की तुष्टि कुछ समय के लिए आनन्द देता है, किन्तु हमेशा के लिए वह आनन्द नहीं दे सकती। मनुष्य तो ऐसा सुख चाहता है, जो कभी क्षीण न हो, उसमें कभी बाधा न आ सके, व्यत्यय न आ सके, यानि वह अबाधित, नित्य सुरक्षित और चिरकालिक सुख की कामना करता है।”¹⁷

चिरंतन सुख की स्थिति :

चिरंतन सुख क्या है, इसकी कौन-सी स्थिति है तथा इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इस पर श्री गुरुजी ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि “फिर चिरंतन सुख की कोई स्थिति है क्या? होगी तो उसके पीछे जाएंगे, अन्यथा जो है, उसी में समाधान मानेंगे। किन्तु जो आधुनिक भौतिकवादी विद्वान् हैं, उन्होंने इस बात की खोज करना ही छोड़ दिया है। वे बाधित सुख में ही संतोष मानने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। आगे बढ़ने की क्षमता, बुद्धि और प्रेरणा उनमें नहीं है। हमारे

६. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड -११, पृ० १६-१७

१० श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० २२८

पूर्वजों ने सब प्रकार के ऐच्छिक सुख और ऐश्वर्य की कामना करने के बाद उसे अंतिम लक्ष्य नहीं माना। उन्होंने कहा कि ऐसी एक वस्तु है, जो केवल अंतर्बाह्य सुखपूर्ण ही नहीं तो प्रत्यक्ष घनीभूत सुख ही है। उससे हमारा तादात्म्य का सम्बन्ध है, जिसका अपने को आज पता नहीं है। पता लगने और अनुभव होने के बाद केवल सुख ही सुख है।

जीवन के सारे कष्ट सहते हुए, सब काम करते समय हृदय शांत, सुखपूर्ण ही रहता है, दुःख होता ही नहीं। ऐसी वह स्थिति है। इस स्थिति का उन्होंने साक्षात्कार किया और आनन्द से जगत् के सामने कहा कि हमने उसका पता लगा लिया है।”

सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय - सर्वेपि सुखिनः सन्तु

सुख को जीवन का लक्ष्य स्वीकार कर लेने के बाद एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक देश के सामाजिक- आर्थिक तंत्र के समस्त क्रियाकलापों के परिणामस्वरूप वह सुख किसको प्राप्त हो- अथवा किसके सुख को केन्द्रीय उद्देश्य मानकर क्रियाकलाप चलाये जाने चाहिए? आज तो वर्ग विशेष (मजदूर, पूँजीपति, किसान, उद्योगपति, उत्पादक, उपभोक्ता, साधन-हीन, अथवा साधन सम्पन्न आदि) अथवा क्षेत्र विशेष (कृषि क्षेत्र, उद्योग क्षेत्र, सेवा क्षेत्र, पश्चिम के विकसित देशों) के हित के लिए ही काम होता हुआ अधिक दिखाई देता है। पश्चिमी चिन्तन के कल्याणकारी राज्य की कल्पना में ज्यादा से ज्यादा ‘अधिकतम संख्या के अधिकतम हित’ का उद्देश्य सामने रखा गया है। फिर मनुष्य अपने लिए सुख-साधन साग्रगी जुटाने की दौड़ में अन्य प्राणियों, वनस्पतियों एवं जीव जन्तुओं को नष्ट करने में भी संकोच नहीं कर रहा, अतः वह अपना सुख पर्यावरण को नष्ट करके प्राप्त कर रहा है और पश्चिमी चिन्तन ‘विकास’ के नाम पर इसका पोषण कर रहा है। किन्तु हिन्दू चिन्तन को ऐसा आंशिक, खण्डित एवं स्वार्थपूर्ण सुख मान्य नहीं हैं। वह तो ‘सर्वभूतहिते रतः’ के रूप में ‘सबके, सब प्रकार के सुख’ को ही अपना केन्द्रीय उद्देश्य घोषित करता है, उसने तो समग्र-समन्वित-एकात्म सुख को ही स्वीकार किया है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए प्रो० गुन्नार मिर्डल ने ‘समग्र सामाजिक सुख’ (Gross Social Happiness) की अवधारणा दी है।

११ श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० २२६-२३०

इसी चिन्तन को रेखांकित करते हुए श्री गुरुजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, “युग-युगान्तर से हमारी एक प्रार्थना रही है- ‘सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः’- सभी सुखी हों और सबकी सभी अनिष्टों से मुक्ति हो, सबको सब प्रकार का कल्याण प्राप्त हो और एक भी व्यक्ति रोगी या दुःखी न हो। आज का पाश्चात्य जगत् ‘अधिकतम संख्या का अधिकतम हित’ (greatest good of the greatest number) की ही कामना लेकर चला है। इसके विपरीत हमारा आदर्श, सबका पूर्ण सुख, रहा है। हमने प्रत्येक मानव के ही नहीं, किसी भी प्राणी के दुःखी होने का विचार कभी सहन नहीं किया। ‘प्राणिमात्र का पूर्ण कल्याण’ ही सदैव हमारा उदात्त आदर्श रहा है।”^{१२}

इस प्रकार ‘सुख’ के सम्बन्ध में श्री गुरुजी द्वारा प्रकट किये विचारों से निम्नलिखित प्रमुख विचार-बिन्दु प्राप्त होते हैं -

१. मनुष्य की सभी क्रियाओं का उद्देश्य ‘सुख प्राप्ति’ है।

२. सुख क्या है? सुख का एक रूप मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं इन्द्रियजन्य सुख (आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि)- इन्द्रिय तथा उसके विषयों से प्राप्त सुख के रूप में माना गया है। पश्चिमी चिन्तन ‘सुख’ की इसी अवधारणा को स्वीकार करता है।

३. हिन्दू चिन्तन ने ‘सुख’ की व्यापक कल्पना दी है। रोटी, कपड़ा, मकान, दवा, शिक्षा आदि की व्यवस्था करना आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं। शरीर के सुख के साथ-साथ मनुष्य को मन, बुद्धि, और आत्मा का सुख भी चाहिए। इस प्रकार ‘सुख’ शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से सम्बन्धित एक बड़ी व्यापक अवधारणा है जिसे मात्र आर्थिक उपयोगिताओं (Economic Utilities) के रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता। यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि मात्र भौतिक एवं आर्थिक वस्तुएँ मनुष्य को सुख नहीं प्रदान कर सकती अथवा धन-दौलत व साधन सम्पदा की वृद्धि तथा सुख में हमेशा सकारात्मक सहसम्बन्ध (Positive Corelation) नहीं देखा जाता। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मनुष्य की भौतिक एवं

१२. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० २

शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन- सम्पदा के अभाव में भी मनुष्य-जीवन सुखी नहीं हो सकता। अतः जहाँ हमें मनुष्य जीवन के अस्तित्व एवं उसके सामाजिक-पारिवारिक क्रियाकलापों के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुएँ व सेवायें उसे उपलब्ध करानी होंगी वहाँ साथ ही उसके मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकता पूर्ति के लिए आवश्यक दर्शन, दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य एवं सामाजिक-मानवीय सम्बन्धों की भी रचना करनी होगी।

४. सुख आत्मनिष्ठ है, वस्तुनिष्ठ नहीं। केवल वस्तुएँ सुख नहीं दे सकती हैं, मनुष्य की भाव-भावनाओं का सुख के साथ गहरा सम्बन्ध है, इसे अधिक अच्छी प्रकार समझा जाना चाहिए। इस बात को एक सीमित संदर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्र में भी यह कहकर स्वीकार किया गया है कि वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता (Utility) वस्तुनिष्ठ नहीं

भावनिष्ठ है। एक ही वस्तु किसी एक व्यक्ति को तो उपयोगिता प्रदान कर सकती है जबकि वही वस्तु किसी दूसरे व्यक्ति को उपयोगिता नहीं देती। उदाहरण के लिए एक शराब पीने वाले व्यक्ति को शराब उपयोगिता प्रदान करती है जबकि शराब न पीने वाले व्यक्ति को उसी शराब में कोई उपयोगिता दिखाई नहीं देती।

५. 'सुख' वासनाओं-इच्छाओं को बढ़ाते जाने में नहीं है, सुख तो वासनाओं-इच्छाओं को कम करते जाने की मानसिकता में से मिलता है। इस दृष्टि से श्री गुरुजी इच्छाओं व आवश्यकताओं को बढ़ाते जाने वाले आर्थिक चिन्तन को स्वीकार नहीं करते, अपितु वे तो प्र० जे० के० मेहता के 'आवश्यकताविहीनता' (wantlessness) की दिशा में चलने वाले अर्थशास्त्र के समर्थक थे।

६. मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्षणिक, अस्थायी एवं आंशिक सुख का न होकर चिरंतन एवं अखण्ड सुख होना चाहिए।

७. समाज के समस्त क्रियाकलापों के दौरान यह भी ध्यान रखना होगा कि कुल मिलाकर सम्पूर्ण समाज के सुख में वृद्धि हो जो शोषण से मुक्ति एवं वितरण की समानता की ओर संकेत करती है। वैसे भी सुख की प्राप्ति मनुष्य अकेला नहीं कर सकता, समाज का सहयोग चाहिए। अतः सुख का आधार परस्परानुकूलता है, संघर्ष नहीं।

पूँजीवाद, समाज एवं हिन्दू चिन्तनाधारित विकल्प :

पिछली शताब्दी के दौरान पूँजीवाद और समाजवाद नामक दो आर्थिक प्रणालियों पर काफी कुछ बहस होती रही है। किन्तु यह बहस यह मानकर ही होती रही है कि दुनिया में या तो पूँजीवादी प्रणाली को अपनाया जाये या फिर समाजवादी प्रणाली को। इस प्रकार ये दो प्रणालियाँ ही एक दूसरे का विकल्प बनकर प्रस्तुत होती रहीं। यही कारण था कि दुनिया के देश लगभग दो खेमों में बँट गये-एक ओर पूँजीवादी देश थे तो दूसरी ओर समाजवादी देश।

स्वाधीनता आंदोलन के समय गांधीजी एवं उनके सहधर्मी कुछ विचारकों ने इस बहस को प्रारम्भ किया था कि आजादी के बाद भारत पूँजीवादी प्रणाली और समाजवादी प्रणाली में से किसी एक को अपनाये अथवा अपनी मूल प्रकृति के आधार पर कोई नया रास्ता खोजे? किन्तु आजादी के बाद यह बहस फिर से पूँजीवादी एवं समाजवादी इन दो प्रणालियों के इर्द गिर्द ही सिमटकर रह गई। ऐसे समय में श्री गुरुजी ने इस बहस में एक सशक्त और सार्थक हस्तक्षेप किया था। उन्होंने पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रणालियों की कमियों, दुर्बलताओं एवं विसंगतियों को उजागर किया। किन्तु वे यहाँ ही नहीं ठहरे, उन्होंने हिन्दू तत्त्वज्ञान को आधार बनाकर एक नये वैकल्पिक मार्ग को तलाशने की आवश्यकता प्रतिपादित की और उसके लिए महत्त्वपूर्ण दिशासूत्रों की ओर भी संकेत किया। अतः यहाँ श्री गुरुजी के इन विचारों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी रहेगा।

जनतंत्र - आधारित पूँजीवाद

यहाँ से अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हम अपनी राष्ट्र-पुनर्रचना के लिए कौन सी प्रणाली चुनें? विश्व में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित हैं: एक जनतंत्र का सहारा लेकर चल रही पूँजीवादी प्रणाली और दूसरी राज्यशक्ति के सहारे चल रही समाजवादी- साम्यवादी प्रणाली।

पूँजीवादी प्रणाली के विकास की प्रक्रिया और उसमें उत्पन्न दोषों के बारे में श्री गुरुजी ने अत्यन्त सटीक विवेचन किया है। वे बताते हैं कि यूरोप के देशों में निरंकुश राजसत्ता की प्रतिक्रिया स्वरूप जनतंत्र का उद्भव हुआ। उस समय वहाँ व्यक्ति दास मात्र था, वह स्वप्रेरणा और स्वतंत्रता से विहीन तथा ईश्वर के समान समझे जाने वाले बादशाहों के हाथ का एक खिलौना मात्र था। ऐसे समय में व्यक्ति की स्वतंत्रता का आधार लेकर, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की घोषणा करते हुए आन्दोलन प्रारम्भ हो गए। उस काल के निरंकुश शासन-जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपना सम्पूर्ण स्वातंत्र्य खोकर पिसता जा रहा था- के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और उसके विकास का प्रबन्ध करने के लिए ही इन आन्दोलनों की सृष्टि हुई। लगभग उसी समय यंत्र युग का भी आरंभ हो चुका था। उद्योगों का पनपना आरम्भ हो गया था। विज्ञान एवं तकनीकी ने उद्योगपतियों को अधिकाधिक बड़े यंत्र लगाने में सहायता करना आरम्भ कर दिया। बड़े परिमाण में उत्पादन करने वाली उन मशीनों पर लाखों मजदूर नियुक्त हो गए। 'समान अवसर' के घोष के आधार पर अधिक बुद्धि और धन से सम्पन्न व्यक्तियों ने संपत्ति के उत्पादन के उन सभी नवीन साधनों पर एकाधिकार कर लिया और वही एकमात्र आर्थिक सर्वाधिपति बन गए। अपने प्रचुर धन की शक्ति से उन्होंने राजनीतिक तंत्र को भी अपने अधिकार में कर लिया। सामान्य व्यक्ति केवल वोट देने के राजनैतिक अधिकार को प्राप्त करके सूखा का सूखा ही बना रहा। असह्य आर्थिक परिस्थितियों में पिसता हुआ वह वोट के अपने अधिकार को भी उपयोग में लाने के लिए स्वाधीन नहीं था।

इस प्रकार 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' की ऊँची कल्पना का अर्थ रह गया कुछ धीमानों की स्वतंत्रता ताकि वे शेष सामान्य जनता का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर उसे दीन-हीन तथा दास बनाये रखें। उन कारखानों में मजदूरी करने वाले स्त्री, पुरुष और बालकों की भयंकर दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे अब पुरानों के स्थान पर नए अत्याचारियों के पैरों के नीचे दबे हुए कराह रहे थे।^{१३}

“श्री गुरुजी के अनुसार आधुनिक पूँजीवादी समाज में जीवन का मुख्य तत्त्व सुख-साधन है। इस प्रणाली को अपनाने वाले देशों में सुख-साधन के दो मुख्य पहलू हैं: विषाक्त प्रतिस्पर्धा और

१३. श्री गुरुजी समग्र , खण्ड ११, पृ० २१
श्री गुरुजी समग्र , खण्ड २, पृ० १२३

उन्मुक्त समाज। श्री गुरुजी ने इन दोनों ही पहलुओं की कमियों व कमजोरियों को इस प्रकार समझाया है।

उन्मुक्तता (Permissiveness) - श्री गुरुजी ने बताया है कि उन्मुक्तता को आजकल की प्रचलित भाषा में परमिसिव सोसायटी का विचार कहा जाता है। 'परमिसिव सोसायटी,' अर्थात् जहाँ मनुष्य को सब बातों की छूट है। किसी पर कोई बन्धन नहीं। 'परमिसिव' का सीधा मतलब है मनमानी करना। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति जीवन का आनन्द स्वैच्छिक ढंग से प्राप्त करने के लिए सर्वतंत्र-स्वतंत्र है। यह वासना, खान-पान, परिवारिक जीवन, सामाजिक अन्तःसम्बन्ध इत्यदि

सभी विषयों में बेलगाम एवं स्वेच्छाचारी है। इस प्रकार की 'उन्मुक्तता' मानवता के वास्तविक सुख में साधक नहीं हो सकती। उस प्रवृत्ति का पहला और सबसे जबर्दस्त प्रभाव यह होगा कि समाज का तानाबाना ध्वस्त हो जाएगा, इस विचारधारणा में समाज नाम की वस्तु समाप्त हो जाती है। जो कुछ बचता है वह केवल 'कोन्ट्रेक्ट थ्योरी' (संविदा-उपपत्ति) है। व्यक्ति को अपने जीवन में जो परमिसिवनेस याने मनमानी की छूट चाहिए उसमें कहीं कोई बाधा न पहुँचे, इसलिए व्यक्ति आपस में करार या समझौते कर लेते हैं। इन करार या समझौतों के कारण मनुष्य का समूहीकरण होता है। इसमें भी व्यक्ति मनमानी करने की छूट ले लेता है, क्योंकि 'सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त' मुख्य रूप से व्यक्ति और समाज के बीच पारस्परिक स्वार्थों की सुरक्षा का आपसी समझौता है। व्यक्ति यह मानने लगता है कि यह तो व्यक्तियों के बीच आपसी अनुबन्ध मात्र है, इसमें कोई पवित्र बन्धन नहीं है। अतः अपने हित में न होने पर वह इसको तोड़ने के लिए स्वतंत्र है। तब समाज के पास इस तर्क का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं होता कि इस प्रकार कोई पक्ष (व्यक्ति) अनुबन्ध को तोड़ता है तो सामाजिक संगठन का आधार स्वतः नष्ट हो जाएगा। तब समाज विखंडित होकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। ऐसे विखंडित समाज में व्यक्ति के सुख की नियति क्या होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।^{१४}

१४. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ०

श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ११, पृ० १२-१३

विषाक्त स्पर्धा

ऐसा दावा किया जाता है कि प्रगति के लिए स्पर्धा आवश्यक है, परन्तु यह सामान्य अनुभव की बात है कि प्रतिस्पर्धा लम्बे समय तक स्वस्थ नहीं रह सकती, क्योंकि स्वस्थ रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। स्पर्धा शीघ्र विकृत हो जाती है। उसमें बिगाड़ उत्पन्न हो जाता है। दूसरे की तुलना में अपना निष्पादन उत्तम करने की इच्छा शीघ्र ही दूसरे को नीचा दिखाकर स्वयं उत्तम दिखने की प्रवृत्ति बन जाती है। स्वयं ऊँचा उठने के स्थान पर दूसरे को नीचे खींचने में स्पर्धा होने लगती है; यह प्रवृत्ति आज खेलों तक में घर कर चुकी है। यदि खेल-जगत् का यह हाल है, तब सीधे भौतिक स्वार्थवाले दूसरे क्षेत्रों के विषयों में तो कहना ही व्यर्थ है। इसलिए स्पर्धा में पहले भले ही कुछ अच्छा दिखाई दे, परन्तु बाद में यह स्वस्थ नहीं रह सकती।

श्री गुरुजी की यह चेतावनी कितनी सही है, इसे हम आज भी देख सकते हैं। आज दुनिया के सम्पन्न देश इसी स्पर्धा के सिद्धान्त का सहारा लेकर वैश्वीकरण के नाम पर पिछड़े व गरीब देशों का शोषण कर रहे हैं और अपने आर्थिक साम्राज्यवाद को बढ़ाने की चाल चल रहे हैं। स्पर्धा एवं उन्मुक्तता के सम्बन्ध में श्री गुरुजी का यह अवलोकन अत्यन्त मार्मिक है, "यदि हम आज के तथाकथित सभ्य और आधुनिक समाजों के लक्षणों का निरपेक्ष भाव से अवलोकन करें तो 'श्रीमद्भगवत् गीता' में वर्णित असुरों से शब्दशः समानता परिलक्षित होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक पश्चिमी समाज की दो प्रमुख विशेषताओं-उन्मुक्तता व प्रतिस्पर्धा ने मानव को सुख और शांति से कोसें दूर ढकेल दिया है।"^{१५}

आज के तथाकथित प्रगतिशील कहे जाने वाले राष्ट्रों में पाई जाने वाली प्रवृत्तियाँ शांति, सुख और प्रसन्नता नहीं दे सकती। इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी कहते हैं, “हम सोचें कि विश्व में प्रगतिशील कहलाने वाले जो देश हैं वहाँ स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, कटुता और दूसरे का सुख देखकर उत्पन्न होने वाली शत्रुता आदि बातें हैं, क्या उनमें मनुष्य के मन को शान्त और स्थिर करने की कोई संभावना है? मन को यदि शान्त और प्रसन्न रखना है तो स्पर्धा से भरे हुए आजकल के इस तथाकथित प्रगतिशील जीवन के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा।”^{१६}

१५. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ११, पृ० १५

श्री गुरुजी के विवेचन से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक कालक्रम में जनतंत्र और तकनीकी प्रगति ने मिलकर औद्योगिकरण के रूप में पूँजीवाद नामक एक प्रणाली को जन्म दिया। इसके केन्द्र में धन व पूँजी संचय था और इसने अपने विकास के लिए स्पर्धा, उन्मुक्तता और इच्छाओं व वासनाओं की वृद्धि को प्रमुख उपकरण के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था में से जन्मे औद्योगिक समाज को मुक्त बाजार तंत्र की गलाकाट प्रतिस्पर्धा के बीच अपने अस्तित्व को बनाये और बचाये रखने के लिए लगातार बढ़ते हुए बाजार, सस्ते श्रम व कच्चे माल की उपलब्धि और तकनोलाजी में लगातार सुधार करते जाने की आवश्यकता महसूस हुई। इस आवश्यकता में से ही इन समाजों ने जहाँ प्रकृति का बेरहमी से शोषण किया वहाँ अपने देश के भीतर कमजोर व साधनहीन लोगों का भी शोषण किया। आगे चलकर इसी के परिणामस्वरूप पूँजीवादी प्रणाली के इन औद्योगिक देशों ने एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों पर साम्राज्य स्थापित कर उन सबका भी शोषण किया। आज भी इन समाजों की शोषण की यह मनोवृत्ति नित नये-नये रूप लेकर सामने आ रही है, जिसने आर्थिक साम्राज्यवाद का संकट खड़ा कर दिया है।

समाजवाद –साम्यवाद

पूँजीवाद शोषण की प्रतिक्रियास्वरूप कार्ल मार्क्स ने मुक्त बाजार तंत्र से अलग एक समाजवादी-साम्यवादी व्यवस्था दी। पर इस नई प्रणाली ने तमाम आकर्षणों के बावजूद समाज के संकटों को और अधिक गहरा और अन्यायपूर्ण बना दिया। इस परिप्रेक्ष्य में इस समाजवादी प्रणाली पर श्री गुरुजी द्वारा की गई टिप्पणियाँ एवं उनका मूल्यांकन बहुत ही मननीय है। समाजवादी प्रणाली के विकसित होने की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं कि विज्ञान के बल पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की मनोवृत्ति ने उत्पाद के साधनों की क्षमता में तो काफी अधिक वृद्धि कर दी किन्तु इसके साथ ही धन का कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण, धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक आदि वर्गों के बीच भेदों का निर्माण भी कर दिया। इसके परिणामस्वरूप ईर्ष्या-द्वेष और असहिष्णुता

१६. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० २६६

बढ़ गई और एक-दूसरे के सुख में सुखी होने तथा संतोष जैसे गुण लुप्त हो गए। उत्पादन वृद्धि के साथ ही कुछ राष्ट्रों ने साम्राज्य विस्तार कर उत्पीड़न-शोषण प्रारम्भ कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में से पूँजीवाद पर आधारित राष्ट्र को समाप्त कर आर्थिक समानता पर आधारित अधिसत्ता उत्पन्न करने के प्रयास में से ही समाजवाद-साम्यवाद की प्रणाली विकसित हुई। इस प्रकार पूँजीवाद की क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में कम्युनिज्म आया।^{१७}

श्री गुरुजी ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समाजवाद की विसंगतियों, अतार्किकता, गलत भविष्यवाणी और इसके परिणामस्वरूप समाज जीवन में उत्पन्न दोषों एवं अन्यायों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में कल्याण के मानवता अंक (१९५६) में उन्होंने लिखा कि समाजवाद ने धर्म को ही अमान्य कर दिया। इसने घृणा एवं प्रतिशोध-विरोध-विद्रोह को ही अपना आधार बनाया। इसके फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था का भी विनाशकारी स्वरूप प्रकट होने लगा और यह असंख्य मानवों के विनाश का कारण बना। इस प्रकार की प्रणाली से सम्पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा तथा बन्धुभाव, प्रेम व विश्वास पर आधारित सबको सुखी बनाने वाली समाज-रचना का निर्माण हो सकने की कल्पना करना ही व्यर्थ है।^{१८}

“क्या आप इस मत के हैं कि सब उत्पादन आदि पर राज्य का अधिकार हो?” इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भी श्री गुरुजी ने कहा, “मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ। यह तो राज्य का पूँजीवाद होगा, जिसमें सभी राज्य के नौकर होंगे, जिसमें व्यक्ति का कोई भी विशेष स्थान नहीं होगा। अतएव साधारण तौर से उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक नहीं।”^{१९} इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री गुरुजी समाजवादी प्रणाली में उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्ण रूप से राज्य स्वामित्व के समर्थक नहीं थे।

समाजवाद का सबसे पहले प्रयोग करने वाले रूस में भी यह प्रणाली किस प्रकार असफल साबित हुई है, इस पर श्री गुरुजी ने बहुत ही तथ्यात्मक टिप्पणीयाँ की हैं। वे कहते हैं, “रूस में, जहाँ राष्ट्रभावना के उन्मूलन का आधार लेकर ही साम्यवाद का प्रयोग हुआ, इस बात की अनुभूति

१७. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० -१२०

१८. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० -१२०

१९. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -१०१

हुई कि राष्ट्रभावना को हृदय से दूर करने पर जीवन की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है। रूसी क्रान्ति के पश्चात् प्रारम्भिक उत्साह की अवस्था में तो अवश्य ही कुछ भौतिक प्रगति हुई। पंचवार्षिक योजनायें सफल हुईं, किन्तु धीरे-धीरे उत्साह टंडा पड़ा और कार्य की प्रेरणा जाती रही। यहाँ तक कि बाद में बड़े-बड़े कारखानों में फौज बैठाकर लोगों से बलात् श्रम लिया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वहाँ भी राष्ट्रभावना के पुनर्जागरण की आवश्यकता प्रतीत हुई और ‘मदरलैंड’ या ‘फादरलैंड’ चाहे जिस नाम का प्रयोग करें, उस सुप्त भावना को जगाने का प्रयत्न हुआ। मातृभूमि या पितृभूमि कहकर जब एक आत्मीयता तथा ममत्व का भाव उत्पन्न होता है, तब कुल परम्परा या समाज की अपनेपन की भावना से सेवा के ही लिए कार्य की प्रेरणा मिलती है। संपूर्ण विश्व की बात करने वाले लोग अधिकांशतः आत्मकेन्द्रित (सेल्फसेंटरड) ही देखे गए हैं। यथार्थतः संसार को एक मानकर चलने वाले कुछ अपवाद ही मिलेंगे।”^{२०}

एक अन्य स्थान पर समाजवाद के बारे में अपने विचारों को श्री गुरुजी ने इन शब्दों में प्रकट किया है, “कम्युनिज्म यह मानकर चला कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक असमानता का निर्माण होगा अवश्यंभावी है, जिससे दो वर्गों का निर्माण होगा- ‘पूँजीपति’ और अकिंचन मजदूर ‘सर्वहारा’। कम्युनिज्म में आगे की कल्पना यह की गई कि इन दोनों श्रेणियों में वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ होगा तथा अंत में श्रमिक वर्ग विजयी होगा। इसके पश्चात् जनता के दैन्य का अवसान हो जाएगा, क्योंकि श्रमिक वर्ग द्वारा संचालित शासन संपत्ति के उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का नियमन करता हुआ जनता की भौतिक आवश्यकताओं की देखरेख का संपूर्ण भार वहन कर लेगा। इस प्रकार यह भविष्यवाणी की गई कि देश का जितना अधिक औद्योगिकरण होगा, उतनी ही अधिक असमानता में वृद्धि होगी और इसलिए तीव्रतर वर्ग-संघर्ष तथा उसके परिणामस्वरूप श्रमिक-शासन का उदय होगा।”

“किन्तु भविष्यवाणी, जो उनके इतिहास के भौतिकवादी भाष्य की पराकाष्ठा थी, को इतिहास के भावी क्रम ने पूर्णरूपेण असत्य सिद्ध कर दिया। सब देशों में औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़ा

२०. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० -३

हुआ देश रूस ही था, जहाँ कम्युनिस्ट क्रान्ति की सफलता सबसे पहले लिखी गई। अमरीका, इंग्लैंड तथा जर्मनी जो आज तक औद्योगिक विकास में अग्रणी थे और इसी कारण वास्तव में जहाँ सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति की रूपरेखा बनी थी, उन्होंने कम्युनिज्म की ओर बढ़ने के कोई लक्षण प्रकट नहीं किये हैं। इसके विपरीत, जहाँ वह पुनः प्रकट हुई, वह औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ एक अन्य देश चीन था, जो अभी ही कुछ वर्षों से कम्युनिस्ट हो गया है। इस प्रकार मानव इतिहास के भौतिकवादी भाष्य के आधार पर कम्युनिज्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता का दावा वास्तविकताओं की कठोर चट्टान पर चूर-चूर हो गया है।”

“प्रश्न है कि स्वाधीनता, शान्ति एवं सम्पन्नता के उस आश्वस्त देश में सामान्य जन की दशा क्या है? इन देशों में श्रमिक के अधिकार, शासन में एकाधिकार रखने वाले दल, अर्थात् कम्युनिस्ट दल के एकाधिपति के हाथों में पहुँच गए हैं। सामूहिक नरसंहार, दास बंदीग्रह, कम्यून, बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यंत्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुँचा दिया है, जितना कि अनियंत्रित राजसत्ता अथवा पूँजीवाद के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था। इस प्रकार जनसाधारण के लिए उनके उस आह्वान का कि ‘मजदूरों तुम्हे बंधन छोड़कर अन्य कुछ नहीं गँवाना’, का वास्तविक व्यवहार में यह परिणाम निकला।”

“क्या वे जनता से की गई अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार समाज की प्रारम्भिक भौतिक आवश्यकतायें (भरपेट भोजन, आश्रय के लिए स्थान, पर्याप्त वस्त्र, रुग्णावस्था के समय चिकित्सा तथा शिक्षा) पूरी करने के अपने लक्ष्य में सफल हुए? रूस का उदहारण लीजिए, जो पूर्ण रीति से इस सिद्धान्त पर प्रयोग करने वाला प्रथम महान देश है। उन्होंने सभी व्यक्तिगत संपत्ति और सभी उद्योगपतियों को समाप्त कर दिया तथा सभी उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। कृषि के मोर्चे पर भी उन्होंने सभी जमींदारों और किसानों को मिटा दिया तथा उनकी कृषि का कम्यून तथा

सामूहिक फार्मों में एकीकरण कर दिया। यह एक पूर्ण प्रयोग था। स्वाभाविकतः गत पचास वर्षों में रूस की समृद्धि में महती उन्नति की आशा करना उचित ही था, किन्तु क्या वह पूर्ण हुई।”

“रूस के पास एक विस्तृत भू-प्रदेश है। एक समय वह संसार में सर्वाधिक गेहूँ उत्पन्न करने वाला देश था। इस सबके अनुपात में वहाँ की जनसंख्या न्यून होने से उसके पास भोजन करने वाले मुख भी कम ही हैं। उनके पास कृषि के सभी आधुनिक उपकरण हैं। इस सबके साथ उनकी प्रत्येक योजना के पीछे शक्तिसंपन्न राज्य के विशाल साधन हैं। यह सब होते हुए भी रूसी सरकार को गेहूँ तथा अन्य खाद्यों का प्रत्यक्ष आयात कनाडा, अमरीका तथा अन्य देशों से करना पड़ा। कम्युनिज्म की परिपूर्ण पराजय का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है।”^{२१}

१९५० में प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रों के समक्ष भाषण में श्रीगुरुजी ने समाजवादी प्रणाली पर प्रहार करते हुए कहा कि “मार्क्स का दर्शन जड़वाद पर आधारित है। यदि उसका ध्येय केवल संपत्ति का समवितरण करना ही हो तो अच्छा है, मुझे मान्य है। किन्तु उसके तत्त्वज्ञान की प्रेरणा भौतिकवाद है। जड़ पदार्थवाद ही उसका दर्शन है। उसकी दृष्टि में कुछ अणुओं के एक विशेष प्रकार के एकत्रीकरण का नाम जीवन है। किन्तु यदि एक विशिष्ट प्रकार का मोलेक्युलर अरेन्जमेन्ट ही सब कुछ है, तो यह भी उतना ही निश्चित है कि कभी न कभी जब उस जीवन का अन्त हो जाता है, तब उन अणुओं का विघटन भी अवश्यमेव होता ही है। यही अंतिम स्थिति है। तब फिर मनुष्य को खिलापिलाकर उसे अधिक मोटा बनाने की व्यवस्था करने के पीछे मार्क्सवाद क्यों पड़ा है? फिर व्यर्थ में ही आर्थिक व्यवस्थाओं से एक जड़ पदार्थ को संतुष्ट करने के उपाय क्यों किये जाते हैं? अपनी इन्हीं व्यवस्थाओं के अन्त में मार्क्स ने राज्यसत्ता लुप्त हो जाने (विदरिंग आफ द स्टेट) की स्थिति की कल्पना की है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य उस राज्यहीन राज्य (स्टेट विदाउट ए स्टेट) में एक-दूसरे से प्रेम करता हुआ सुख शांतिपूर्वक रहेगा। किन्तु जड़वाद के पास इसका क्या सबूत है कि ऐसे समाज के लोग अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे को नहीं लूटेंगे? इस स्थिति में सब समाज सुख शान्ति के लिए प्रयत्न करेगा, यह निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य की स्वार्थबुद्धि शांति के बदले अशांति, सुख के बजाय दुःख और प्रेम के बदले घृणा नहीं फैलायेगी, यह किस आधार पर कहा जा सकता है?”^{२२}

२१. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ११, पृ० २१ - २३

२२. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड २, पृ० -१४८

समाजवाद के नाम पर “आज समाज-रचना के जो चित्र हमारे सामने रखे जाते हैं, उनमें मन को आकृष्ट करने वाला एक चित्र यह भी है कि सब वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण हो जाए। राज्यसत्ता ही सब कुछ करे, व्यक्तियों को उसके ईमानदार नौकर के नाते ही काम करना चाहिए। ये विचार सुखमय जीवन का विश्वास दिला सकते हैं, क्या? समाज की एकात्मता को मानते हुए समाजवाद किस आधार पर इसकी रचना करेगा, इसका हम विचार करें।”^{२३}

श्री गुरुजी ने साम्यवादी प्रणाली की कमियों को उजागर करते हुए कहा है कि “साम्यवादी विचार के लोगों का मानना है कि उनके चारों ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो बुद्धिमत्ता या अन्य कारणों से धन का उत्पादन करते हैं और ऐश करते हैं। अधिकांश लोग ऐसा नहीं कर पाते।

इसलिए वे सोचते हैं कि किसी की भी उत्पादन शक्ति और बुद्धि न रहे। अपनी उन्नति दूसरे के बराबर हो, यह नहीं सोचते, परन्तु दूसरे की अवनति अपने बराबर अवश्य करना चाहते हैं। 'लेवलिंग डाउन' है, 'लेवलिंग अप' नहीं। इसी का परिवर्तित रूप दूसरा भी है। किसी भी मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार की संपत्ति न रहे। यहाँ तक कि समाज की रचना भी इस सब संपत्ति की समानता के लिए बदल दी जाए।^{२४}

साम्यवादी प्रणाली को लागू करने के लिए "एक अंतरिम केन्द्रीभूत सत्ता के निर्माण की कल्पना करनी पड़ती है, जो सबको नीचे दबाकर एक कर दे। कहा जाता है कि यह सत्ता आगे चलकर नष्ट हो जायेगी। इसी को वे 'राज्य सत्ता का क्रमशः नष्ट होना' कहते हैं, किन्तु यह सत्ता-शून्य जीवन कैसे उत्पन्न होगा? वस्तुतः साम्यता का अनुभव तो वह कर सकता है, जिसने हिन्दू-संस्कृति का तत्त्वज्ञान जाना है। साम्य का प्रयोग अपने यहाँ स्थान-स्थान पर हुआ है। 'एषां साम्य मनः, समत्व योग' आदि।^{२५}

"इस विचार प्रणाली की एक और समस्या है। इसने आर्थिक वैषम्य के अनुसार मनुष्य मात्र को दो वर्गों में बाँट दिया है। एक सम्पत्तिशाली ;अमेद्ध और दूसरा संपत्तिहीन ;अम दवजेद्ध। इनके परस्पर संघर्ष में संपत्तिशाली को नष्टकर संपत्तिहीन को जीवित रखना ही उनका ध्येय है। इस सुखपूर्ण चित्र को पूर्ण करने के लिए एक मध्यवर्ती सत्ता की कल्पना की गई है, जो सम्पत्ति को

२३. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -६१

२४. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -६२

२५. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -६२

सबमें समान रूप से बाँट देगी। इसके पश्चात् कहा जाता है कि वह सत्ता नष्ट हो जायेगी।^{२६}

साम्यवादी प्रणाली में धर्म को स्वीकार नहीं किया गया है, और धर्म-विहीन मनुष्य पशु के समान ही होता है। अतः श्री गुरुजी कहते हैं कि "मनुष्य यदि पूर्णतया पशुभाव से युक्त है तो वह केवल सत्ता के सहारे भय से ही एक-दूसरे को नहीं खा पाता। किन्तु जब सत्ता ही नहीं रहेगी, तब वह क्योंकि एक-दूसरे का विरोध न करते हुए रहेगा। मनुष्य वह प्राणी है, जो विकारों का शिकार होता है। विकार तृप्त होने पर बढ़ते ही जाते हैं। फिर ऐसा मनुष्य दूसरे के साथ स्नेह का व्यवहार कैसे करेगा? इसका उत्तर वहाँ नहीं मिलता। वे तो केवल 'ऐसा होगा' यह कहकर शांत हो जाते हैं। न तो किसी प्रकार का प्रमाण देते हैं, न तर्क ही। मनुष्य यदि पशु है तो समानता का निर्माण हो भी गया तो वह पुनः वैषम्य उत्पन्न कर देगा और इस प्रकार फिर क्रान्ति की आवश्यकता होगी। क्रान्ति, क्रान्ति, क्रान्ति अर्थात् सतत रक्त प्रवाह। उलट-पुलटकर संघर्ष ही उनका आधार है।

श्री गुरुजी के अनुसार, "समाजवादी पद्धति दुनिया में कभी भी कहीं भी सर्वोत्तम प्रणाली नहीं हुई है। यदि समाजवाद एक ही देश की सीमा में सीमित रहता है तो वह हिटलर या मुसोलिनी का समाजवाद हो जाता है और जब सीमायें लाँघता है तो रूसी अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद बनता है। ये दोनों प्रकार क्या कहर ढाते हैं, हम देख चुके हैं। समाजवाद की आड़ में सत्तारूढ़ दल या सत्तारूढ़ नेता तानाशाही की ओर क्रमशः बढ़ रहे हैं। उत्पादन के सारे साधन अपने हाथ में ले रहे हैं।"^{२७}

परमवैश्व का हिन्दूचिन्तनाधारित मार्ग

पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही फँसे उलटफेर के भँवर में

विश्व में प्रचलित पूँजीवाद और समाजवाद नामक दोनों ही प्रणालियाँ सैद्धान्तिक संभ्रम और व्यावहारिक भटकाव का शिकार होती हुई दिखाई देती हैं। अतः दोनों ही अपने-अपने मूल स्वरूप को भूलकर अपने-अपने स्थान से हटकर एक-दूसरे की ओर आती जा रही हैं— ऐसा लगता है मानों दोनों ही भटकाव के भँवर में फँस गई हैं। उन्हें यह सूझ ही नहीं पा रहा कि उन्हें कहाँ जाना है और क्यों जाना है? यह लक्ष्यविहीन संचलन, या डोर कटी पतंग की उड़ान अथवा बिना स्टीयरिंग के दौड़ी जा रही मोटरकार जैसा हो रहा है।

“कुछ तो औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप और कुछ वैसे ही यह दिखाई दिया कि इस प्रकार न तो पारस्परिक विषमता नष्ट हो पाई और न ही व्यक्ति की रक्षा संभव हो सकी। फलतः उसके समूहीकरण की प्रकृति ट्रेड यूनियन के रूप में प्रकट हुई। कल्याणकारी राज्य (Welfare state) की कल्पना उसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इस प्रकार मनुष्य के तथाकथित स्वतंत्र जीवन का उद्घोष करते-करते समूहीकरण (regimentation) की ओर बढ़ गए। सब लोग अपने सुख-दुःख मिलाकर चलें, सबकी प्राप्ति और दारिद्र्य को एक कर, जितना हो सके, मिलकर ही उपभोग करें— ऐसी भावना उत्पन्न होती जा रही है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को अनिवार्य मानकर चलने वाले उसे छोड़ते जा रहे हैं। स्पष्ट ही जनतंत्र (और पूँजीवाद) ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में सिद्ध नहीं होता।”^{२८}

दूसरी ओर साम्यवादी प्रणाली के “दुष्परिणाम देखकर कम्युनिस्ट देश अपनी पूर्ण सरकारीकरण की पद्धति के विषय में फिर से विचार करने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का विनाश व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति एवं कार्य के लिए उत्साह का हनन कर देता है। अतः वे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दिशा में शनैः-शनैः आगे बढ़ रहे हैं। पूर्वी योरोप के कुछ कम्युनिस्ट देशों और रूस में भी उन्हें विवश होकर व्यक्ति को उसकी कुछ वस्तुओं पर स्वामित्व रखने और

अपनी सम्पत्ति के उपभोग की आंशिक स्वतंत्रता की अनुमति देनी पड़ी है। उदाहरण के लिए रूस में कृषकों को ‘किचनफार्म’ को व्यक्तिगत रूप से जोतने की अनुमति दी जा रही है। अतः यह समाजवाद भी अनिवार्य नहीं है। यदि यह अनिवार्य होता तो उससे पीछे हटने की आवश्यकता नहीं थी।”^{२९}

दोनों विचार एक ही मूल से उत्पन्न

श्री गुरुजी ने इस बात को बड़े जोरदार ढंग से रेखांकित किया है कि यदि हम गहराई से विचार करें तो अपने मूल रूप में ये दोनों ही विचार-प्रणालियाँ एक ही स्रोत से निकली हैं और वह

है भौतिकता या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति। अतः अन्तिम परिणिति भी दोनों की एक जैसी ही होती है।

एक भौतिक सत्ता मात्र होने के कारण तथा उन्हीं भौतिक आकाँक्षाओं से प्रेरित होने के फलस्वरूप कोई कारण नहीं था कि व्यक्ति समाज को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ और माने। किन्तु ऐसे व्यक्तियों से बने समाज, जिसमें व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अपने ही स्वार्थ-साधन में जुटा हो, के एक दिन भी टिकने की आशा नहीं की जा सकती। इस कारण व्यक्ति और समाज के टकराते हुए हितों के बीच एक प्रकार का समझौता कर लेना आवश्यक लगा। यह समझौता व्यक्ति और समाज के बीच अन्तर्निहित सहज संघर्ष की धारणा का परिणाम है। इसी मूलभूत संघर्ष ने अपने को एक ओर तो पूँजीवाद के स्वरूप में और दूसरी ओर कम्युनिज़्म के स्वरूप में व्यक्त किया। अर्थात् एक में व्यक्ति समाज का शत्रु हो रहा है तो दूसरे में समाज व्यक्ति का।

हमारी परमवैभव की परिकल्पना

“अपना लक्ष्य क्या है? अपना लक्ष्य एक ऐसे प्रबल राष्ट्र का निर्माण करना है, जो मानव-समाज की उत्तम धारणा लेकर चले, जो सम्पूर्ण मानवों में परिवर्तन कर भौतिकता से भरे हुए आदर्शों को शुद्ध आध्यात्मिक आधार देकर वैभव के साथ-साथ शुद्ध आध्यात्मिक जीवन का समन्वय कर सके एवं उस आदर्श की पुनःस्थापना पूरी पृथ्वी पर कर सके”^{३०}

२६. श्री गुरुजी समग्र , खण्ड ११, पृ० २४

श्री गुरुजी समग्र , खण्ड २, पृ० १२४

३०. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -१६३

कुछ लोग जानबूझकर और कुछ लोग अज्ञानवश यह कहते हैं कि हिन्दू चिन्तन तो वैभव-विरोधी है। इस भ्रम का निवारण करते हुए श्री गुरुजी ने कहा है कि “ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या” का अर्थ यह नहीं है कि घरबार छोड़कर जंगल में जाया जाए; जगत् मिथ्या होने के कारण उसकी किसी चीज की अपने को आवश्यकता नहीं है। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि हमें वैभव नहीं चाहिए। वैभव से परावृत्त करने वाला अपना शास्त्र नहीं है। इस लोक के सम्पूर्ण सुख का सच्चाई से, सन्मार्ग से, परिपूर्ण रीति से सबने उपभोग करना चाहिए। सुख-संपत्ति छोड़ दो-ऐसा अपने यहाँ नहीं कहा गया। अच्छे राज्य का लक्षण बताते समय शास्त्रों में कहा है कि जहाँ का कोष भरा हुआ है, समृद्धि के कारण सबका भरण-पोषण होता है, जहाँ राज्य-कर्मचारी संतुष्ट हैं और जहाँ पाप करने की प्रवृत्ति निर्माण नहीं होती, वह राज्य अच्छा है।”^{३१}

आजकल कारखाने बढ़ाओ, यंत्र बढ़ाओ, धन-सम्पत्ति बढ़ाओ-यही चारों ओर चर्चा है। कुल मिलाकर अर्थ प्रधान समाज रचना चलाने की चेष्टा यहाँ हो रही है। किन्तु श्री गुरुजी ने अपने परमवैभव की कल्पना को केवल इतना नहीं माना। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि, “हम जिस वैभव की बात करते हैं, उसका चित्र कुछ भिन्न है। ऐहिक समृद्धि रहे, कोई असंतुष्ट न रहे, इसका ध्यान अपने समाज-पुरुषों ने रखा था। अध्ययन के लिए बाहर से जो विदेशी यात्री आए, उन्होंने यहाँ के वैभव का वर्णन करते हुए लिखा है- ‘सबके पास इतना था कि किसी को चोरी करने की

आवश्यकता नहीं थी, कोई अनीति नहीं थी' शरीर-धारणा के लिए वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण प्रमाण में होना आवश्यक है। उससे योग्य वायुमण्डल बन सकता है, इसमें संदेह नहीं। अर्थ और काम का नियंत्रण धर्म द्वारा और उसका परिपाक मोक्ष प्राप्ति में होना चाहिए। इन सद्गुणों के बीच अपना समाज ऐहिक जीवन बिता सके, यही अपनी समाज-रचना है।^{३२}

देश के वैभव की रक्षा करने का सामर्थ्य भी अपने पास रहना चाहिए तभी वह वैभव अपना वैभव है। इस सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए श्री गुरुजी ने कहा है कि, "वैभव सम्पन्नता को प्राप्त करना तो सरल है, किन्तु जो प्राप्त किया है, उसका ठीक प्रकार से संरक्षण करना उतना ही जरूरी

३१. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ४, पृ० -२५२

३२. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ४, पृ० -१६२

होता है। अपने यहाँ कहा गया है कि-‘अप्राप्तस्य प्राप्तिः, प्राप्तस्य रक्षणं, इति योगक्षेमः।’ अतीत में अपने पास अतुल धन सम्पदा थी, परन्तु उसकी रक्षा करने का गुण हमारे पास नहीं था, इसलिए वह चली गई। अब यदि किसी प्रकार वैभव प्राप्त हो भी गया, पर उसके संरक्षण की शक्ति न रही तो अर्थ-काम प्रधान शक्तियाँ हमारे वैभव को लूटने में संकोच नहीं करेंगी।^{३३}

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री गुरुजी ने कहा है कि हम प्रतिदिन प्रार्थना में अपना लक्ष्य इस प्रकार बताते हैं -‘परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्, समर्था भवत्वाशिषा ते भृशम्’-याने हमारे राष्ट्र को परमवैभव सम्पन्न बनाने के लिए, हमारी यह नित्य विजयशालिनी कार्यशक्ति अतिशीघ्र समर्थ बने। कुछ लोगों का कहना है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के कारखाने आदि खोलने से राष्ट्र वैभवसम्पन्न हो जाएगा। परन्तु हम लोगों ने इसका विचार कुछ अलग किया है। हमने कहा कि यद्यपि कल-करखानों से उत्पादन बढ़ेगा, सम्पत्ति की कुछ वृद्धि होगी। फिर भी इसका विश्वास क्या है कि यह सम्पत्ति अपने ही हाथों में रहेगी? इस कारण हमारा विचार है कि अपना राष्ट्र स्वपराक्रम से सुख-समृद्धि प्राप्त करने की क्षमता रखने वाला, स्वावलम्बी होकर विश्व के सामने खड़ा रहने वाला और अपने ही पराक्रम से रक्षण करने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए।^{३४}

पुरुषार्थ चतुष्टय- एक समग्र-सम्बन्धित संकल्पना

आज का अर्थशास्त्र एवं अर्थचिन्तन अर्थ-काम केन्द्रित है। इसे एक आर्थिक-चक्र (Economic Circle) से समझाया जाता है। मनुष्य की आवश्यकतायें- इन्हें पूरा करने के लिए अर्थार्जन-धन से आवश्यकताओं की संतुष्टि (काम)-और फिर आवश्यकताओं का उत्पन्न होना- इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। हिन्दू मनीषियों ने इसे संकुचित एवं आधा-अधूरा दृष्टिकोण माना है। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों की कल्पना की है। इनके माध्यम से उन्होंने अर्थशास्त्र को अधिक व्यापक, समग्र एवं संतुलित आधार प्रदान किया है। उनके अनुसार मोक्ष के परम उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अर्थ और काम से सम्बन्धित क्रियाकलाप धर्म के नियंत्रण में चलने चाहिए। धर्म का अर्थ यहाँ मनुष्य-जीवन के धारण, पोषण एवं निर्वाह के लिए नैतिक मर्यादाओं के पालन से है।

३३. श्री गुरुजी समग्र , खण्ड ४, पृ० १६४

३४. श्री गुरुजी समग्र , खण्ड ३, पृ० ७५

इस प्रकार पश्चिमी अर्थशास्त्र अर्थ और काम तक सीमित होकर केवल शारीरिक-भौतिक आवश्यकताओं व समस्याओं का समाधान देने का प्रयास करता है। जबकि हिन्दू अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्यापक अवधारणाओं के आधार पर शरीर और आत्मा दोनों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

धर्म का आधार और मोक्ष का लक्ष्य रखने पर आवश्यकतायें सीमित रहती हैं। शरीर की आवश्यकताएँ तो गिनी-चुनी हैं, समस्या तब खड़ी होती है जब आवश्यकता 'वासना' बन जाती है। हिन्दू अर्थचिन्तन में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग तो प्रस्तुत है ही, साथ ही उन आवश्यकताओं को कम से कम रखने का मार्गदर्शन भी दिया गया है। जबकि पश्चिमी अर्थचिन्तन आवश्यकताओं को बढ़ाकर उन्हीं की पूर्ति को जीवन का लक्ष्य मानता है। इस प्रकार जहाँ पश्चिमी अर्थशास्त्र असंयमित उपभोग पर खड़ा है वहीं हिन्दू अर्थशास्त्र का आधार है, संयमित उपभोग।

श्री गुरुजी ने पुरुषार्थ चतुष्टय की समग्र सामाजिक आर्थिक चिन्तन के रूप में बहुत सुन्दर व्याख्या की है।

अर्थ-काम प्रधान जीवन

“मन की विषय-वासना को तुष्ट करने वाले साधनों को जुटाना और रक्षा के लिए सत्ता को अधिकाधिक प्रबल करना ही आज की अर्थ-काम प्रधान व्यवस्था है। उसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य खाना-पीना, सुख-साधन और विषयोपभोग में ही फँसता चला जायेगा। आज यह सभी जानते हैं कि जीवन अर्थ-काम प्रधान है। अर्थ-प्राप्ति के बाद उसकी रक्षा और उसका संवर्धन आवश्यक हो गया है। परन्तु आज तक वासना से कोई संतुष्ट नहीं हुआ।

मोक्ष लक्षित धर्माधारित अर्थ-काम का संतुलित विचार

यदि अर्थ-काम प्रधान जीवन और चिन्तन अधूरा है और दुःखमय है तो उपाय योजना क्या है? इस बारे में श्री गुरुजी का निश्चित मत था कि हमारी चार पुरुषार्थों की संकल्पना को आज के परिप्रेक्ष्य में व्यावहारिक जीवन में उतारना ही एकमेव उपाय है। अतः अपने इन भावों को उन्होंने समय-समय पर भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रकट किया है।

वे कहते हैं, “अब देखना यह है कि क्या अपने देश और समाज की परम्परा से हमारा कोई पथ-प्रदर्शन होता है? निश्चय ही होता है। प्राचीन काल के महापुरुषों ने सांगोपांग विवेचन करके कहा है कि केवल अर्थ-काम की उपासना करना पशुवत जीवन है, आसुरी जीवन है, राक्षसी जीवन है, त्याज्य जीवन है।

“अर्थ और काम से सर्वथा मुक्त होना असंभव है। पर उसके द्वारा जीवन में असुरता न आये, इसकी उपाय-योजना आवश्यक है। इसी नाते अपने यहाँ बताया गया कि पहला, वासना कभी संतुष्ट नहीं होती और दूसरा, जिन वस्तुओं का संग्रह करके मनुष्य सुख पाने की अभिलाषा करता है, उन वस्तुओं में सुख देने की कोई क्षमता नहीं है। सुख तो अपने पास है। बाहर से कुछ नहीं मिलता। हम तो अज्ञान के कारण यह बोलते हैं कि अमुक चीज में सुख है, जबकि वास्तविकता यह है कि उस वस्तु को निमित्त बनाकर अपने ही अंदर के महासागर के सुख को चखते हैं। मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने भीतर के इसी सुख को पाना है। सब प्रकार के इहलौकिक बन्धन से मुक्त हो जाने वाला, बाह्य वस्तुओं की कामना से निर्बाध हो जाने वाला ही यह चिरंतन सुख प्राप्त

कर सकता है। मनुष्य को इहलोक के सुखों की तृप्ति के लिए भी कुछ प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। लेकिन यह तृप्ति व्यक्ति को अमर्यादित न कर दे, इसकी उपाय-योजना भी करनी होगी। इसके लिए हमारे यहाँ एक पुरुषार्थ बताया गया है-धर्म। अपने भीतर के अनेक गुणावगुणों, विकारों को भली भाँति नियंत्रित करके मानसिक सुव्यवस्था का निर्माण करना धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस धर्म को अपने जीवन का आधार मानकर, उसके अनुरूप अर्थ-काम को नियोजित कर अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मनुष्य जीवन का संपूर्ण स्वरूप है। यही परिपूर्ण मानव की कल्पना है। अर्थ-काम ही जिसके जीवन में है, वह अपूर्ण और विशृंखलित मानव है। आज के अशांतिपूर्ण जगत् में मनुष्य-मनुष्य के बीच बन्धुता के भाव का जो अभाव दिखाई देता है, उसे समाप्त कर जागतिक शांति की जीवन-व्यवस्था निर्माण करने के लिए इन चार पुरुषार्थों को आधार बनाना होगा, अन्यथा और कोई विकल्प नहीं।^{१३५}

३५. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृ० १२६-१३१

इसी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं: “विश्व के सामने हमारा राष्ट्र- जीवन चतुर्विध पुरुषार्थ-स्थापना के एक महान आदर्श के रूप में उपस्थित हुआ है। सर्वप्रथम धर्म-पुरुषार्थ के अन्तर्गत एकात्मता की अनुभूति इस आधार पर करना, कि हम सबमें एक ही तत्त्व विद्यमान है। इस तत्त्व की अनुभूति से सहज भ्रातृभाव के कारण हमारा यह दायित्व बनता है कि अपनी शक्ति बुद्धि का पूर्ण उपयोग करते हुए वस्तुओं व साधनों का अधिकाधिक निर्माण करना और उसका ऐसा वितरण करना कि सबको अधिकाधिक सुख मिले। मनुष्य जीवन का अंतिम लक्ष्य भोग नहीं है। वह उपभोगों का दास न बने। इसके लिए मोक्ष-पुरुषार्थ का स्मरण रखते हुए त्यागमय जीवन अपनाने का प्रयत्न होना चाहिए।^{१३६}

“मनुष्य शरीर में अनेक कोशिकायें (सेल्स) हैं। वे असंख्य जीवाणुओं से बनी हैं। वे जीवाणु अपने जीवन को नष्ट करके मनुष्य के शरीर को स्वस्थ रखते हैं। इसी प्रकार हमारा समाज भी करोड़ों व्यक्तियों से बना है। इस समाज के साथ एकात्मता का अनुभव करते हुए हम करोड़ों नंगे-भूखे लोगों की सेवा करने के लिए व्यक्तिगत सुख को टोकर मार दें, यही धर्म की भावना है। व्यास ने कहा है कि जिस अर्थ और काम की तुम्हें अभिलाषा है, वह धर्म पालन से ही मिलेगा।^{१३७}

जीवन में सुख, शान्ति और संतुलन के लिए पुरुषार्थ चतुष्टय की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं: “हमारे राष्ट्रीय जीवन का लाखों वर्षों का अनुभव कहता है कि अनन्त इन्द्रिय-सुख की कामना और इसकी तृप्ति हेतु उन्मादी प्रतिस्पर्धा कभी भी सुख-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती। इसने हमें व्यक्तिगत विकास एवं समाज के ताने-बाने की सुरक्षा के लिए आत्मसंयम की साधना का पाठ पढ़ाया है। आत्मसंयम की भावना की जागृति के लिए चतुर्विध पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवधारणा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यह चतुर्विध लक्ष्य आत्मसंयम, संतुलन और समरसता से पूर्ण जीवन जीने में सहायक होता है। यह व्यवस्था हमें व्यक्ति व समाज के प्रति अपने कर्तव्य एवं दायित्व का निरंतर बोध कराती रहती है। धर्म अर्थात् व्यवहार संहिता वह प्रेरक तत्व है, जो जीवन के सभी उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त करने के लिए हमारा मार्गदर्शन करता है तथा जीवन के सभी भौतिक पक्षों-अर्थ और काम पर अंकुश रखता है।

“इन आचार-संहिताओं की भाव-भावनाओं का उत्कृष्ट लक्ष्य अर्थात् हमारे अस्तित्व की वस्तुस्थिति अर्थात् पुरुषार्थ का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने की सर्वोच्च आकांक्षा उत्पन्न करना है। इस प्रकार हमारी सभी प्रवृत्तियाँ और विषय-भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायनी होती है, परन्तु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है। ठीक यही स्थिति मानवजीवन के प्रवाह की है।”^{३८}

“यह कहा गया है कि ‘धर्मादर्थश्च कामश्च’, अर्थात् प्रथम धर्म का आचरण करो, धर्म तुम्हें अर्थ और काम की प्राप्ति करा देगा। धर्म का एक अर्थ-‘यतोभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः’ (वैशेषिक दर्शन) के रूप में किया गया है। इसका अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करता है (जैसे यम नियमों द्वारा) और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्त्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करता है। धर्म का एक दूसरा रूप भी है-‘धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः- अर्थात् वह शक्ति जो व्यक्तियों को एकत्र लाती है और उन्हें समाज के रूप में धारण करती है, वह धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है, जो उसे चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।”^{३९} इसी बात को आगे बढ़ाते हुए श्री गुरुजी ने कहा कि, “अपने देश में यह विचार किया गया कि असंयमित उपभोग लालसा और उसकी तृप्ति के लिए स्पर्धापूर्ण दौड़ से सुख नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए व्यक्ति के नाते और समाज के नाते भी संयमशीलता लानी चाहिए। इसलिए अपने यहाँ चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। ये चारों पुरुषार्थ इसी संयम से भरे हुए जीवन के निर्माण के लिए हैं। धर्म के

आधार पर व्यक्ति और समाज दोनों नियंत्रित हों, और फिर इस प्रकार के धर्मनियंत्रित जीवन से अर्थ और काम पुरुषार्थ की आराधना करें। याने उपभोग, सत्ताधन, संपत्ति, ऐशो-आराम के साधन आदि ये सब धर्म से नियंत्रित हों और नियंत्रण को पूर्ण करने के लिए सदैव मोक्ष रूपी यह चाह बनी रहे कि अपने मूल सुखमय स्वरूप की अनुभूति हो। यही चाह, याने चौथा पुरुषार्थ ‘मोक्ष’ हमारे सामने रखा गया है।”^{४०}

आदर्श सामाजिक-आर्थिक रचना के अन्य महत्त्वपूर्ण दिशा - सूत्र :

हिन्दू तत्त्वज्ञान के प्रकाश में पुरुषार्थ-चतुष्टय के अलावा श्री गुरुजी ने एक आदर्श सामाजिक-आर्थिक रचना के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण दिशासूत्रों की ओर भी संकेत किया है। इससे सम्बन्धित कुछ प्रमुख विचार-बिन्दुओं को नीचे दिया जा रहा है।

“हमारे पूर्वजों ने कृतयुग की कल्पना की है। यह युग मनुष्य के प्रयत्नों से ही उत्पन्न होगा। इसलिए इसे ‘कृतयुग’ कहा गया। इस युग में धर्म फिर से एक बार पूर्णता के साथ प्रकट होगा। इसी से सम्पूर्ण मानव समाज के साथ समान सुख-दुख की भूमिका उत्पन्न होगी। ऐसे मानव-समाज का निर्माण कर उसे सुसंस्कृत करना ही हमारा ध्येय है। किसी सत्ता के अथवा बाह्य नियंत्रण के कारण नहीं, अपितु केवल धर्म के भाव से सम्पूर्ण समाज-शरीर की एकात्मता का अनुभव तथा पूर्ण राष्ट्र की सेवा, अपना सुख-दुःख भूलकर भी अपने बन्धुओं के लिए सर्वस्वार्पण करते जाना ही कृतयुग निर्माण करने का एकमेव मार्ग है।”

“कृतयुग की हमारी इस कल्पना में आज के ‘राजसत्ताशून्य राज्य’ (समाजवादी प्रणाली) के चित्र में साम्य दिखाई देता है। साम्य यह है कि दोनों में राज्य की कल्पना नहीं है। फिर भी हमारी कल्पना कम्युनिज़्म या अनारकिज़्म नहीं है। यदि वह कोई इज़्म ही है तो केवल ‘हिन्दुइज़्म’ है। हमारे यहाँ नीतिशास्त्र में ऐसा वर्णित है कि उस समय राज्य नहीं रहेगा, राजा नहीं रहेगा, राजसत्ता नहीं रहेगी, दंड विधान नहीं रहेगा। कोई पापी ही नहीं रहेगा, इसलिए किसी को दंड देने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। पर यह सब किस आधार पर हो सकेगा? बताया गया कि यह सब धर्म के आधार पर होगा।

४०. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० ३००-३०१

‘न वै राज्यं न राजाऽऽसीत न दण्डयो न च दाण्डिकः।

धर्मैरेव हि प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा० शान्तिपर्व)”^{४१}

विश्व शान्ति एवं विश्व कल्याण के मार्ग की ओर श्री गुरुजी ने संकेत करते हुए समझाया है कि आज की परिस्थिति में सम्पूर्ण मानव जाति को एक कुटुम्ब के रूप में मानकर व्यवहार करने का मार्ग खोजना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्रों का विनाश न करके उन्हें अपने-अपने श्रेष्ठ वैशिष्ट्यों से युक्त जीवन का विकास करने दिया जावे। इस विकास में सब राष्ट्र परस्पर सहकारी बनें, ऐहिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सब राष्ट्र एक-दूसरे का भरण-पोषण करने में सहायक हों। सब लोग इस ‘एक कुटुम्ब’ भावना को यथार्थ आधार समझकर चलें। इसके लिए भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान दोनों के बीच परस्पर योग्य मेल होना आवश्यक है।”^{४२}

श्री गुरुजी का मत था कि हमारे लिए अर्थव्यवस्था पर पूर्णराज्याधिकार और सम्पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच का मार्ग ही ठीक है। वे कहा करते थे कि हम एक ऐसी रचना विकसित करेंगे जिसमें हम भौतिक साधन पश्चिम के लेंगे और समाज-रचना का आधार भारतीय रहेगा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि हम प्रतिस्पर्धा नहीं चाहते, यह अभारतीय है। इसके विपरीत सहकार्य से कार्य करने का ढंग भारतीय है। उनके अनुसार आर्थिक प्रगति के दो मार्ग हो सकते हैं। एक, सत्ता के बल पर राष्ट्रीय सम्पत्ति का विभाजन करना तथा दूसरा, जनता की मनोवृत्ति में उचित परिवर्तन करते हुए उसी ध्येय को प्राप्त करना। हम जनता के हृदय-परिवर्तन वाले दूसरे मार्ग को ही स्वीकार करते हैं।”^{४३}

श्री गुरुजी के अनुसार, “समाज की ऐसी रचना ही अधिक टिकाऊ होगी जहाँ समान गुण एवं समान अन्तःकरण वाले एकत्र आकर विकास करते हुए जीवन-यापन करने के जिस मार्ग से अधिक समाजोपयोगी सिद्ध हो सकें, उसके अनुसार चल सकें। एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी व्यक्ति में समानता भी रहती है। हमें इन दोनों गुणों का इस प्रकार सामंजस्य करना होगा कि उसके व्यक्तित्व का विकास तो हो, किन्तु वह विकास उसके सामूहिक जीवन का हितविरोधी न बने।”^{४१}

४१. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० ६५-६८

४२. श्री गुरुजी समग्र दर्शन, खण्ड ३, पृ० १२१-१२३

४३. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० १००-१०१

“अपने यहाँ सम्पूर्ण समाज को एक शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है:- ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्’ (ऋग्वेद)। समाजरूपी विराटपुरुष की कल्पना और उसमें व्याप्त चिरंतन अस्तित्व की अनुभूति-यही हमारे भारतीय चिन्तन की विशेषता है। चिन्तन की इस दिशा को छोड़कर विचार किया, तो समग्र मानव के सुख की समस्या हल नहीं होती। उस स्थिति में सीधा-सा प्रश्न उपस्थित होता है कि जितना कुछ उपलब्ध है, वह सबको प्राप्त हो, ऐसा विचार ही क्यों रखें? केवल अपना निजी विचार करना क्या पर्याप्त नहीं? अन्य लोगों को सुख मिले या दुःख, यह सोचने की आवश्यकता ही कहाँ है? आखिर उनका अपना सम्बन्ध ही क्या है? भारतेतर अन्य चिन्तनधाराओं के अनुसार यदि यह मान लिया जाए कि हम अलग-अलग पंचमहाभूतों से बने गोलपिंडमात्र हैं, हमारे और अन्यो के बीच कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं, तब तो अन्यो के सुख-दुःख की अनुभूति हमारे अन्तःकरण में उठने का सवाल ही पैदा नहीं होता। इसलिए इन (भारतेतर) विचार प्रणालियों में ‘समाज’ नाम का उल्लेख भले ही होता हो, परन्तु उनकी दृष्टि यहीं तक सीमित है कि अनेक लोगों के स्वार्थों का जमघट ही ‘समाज’ है।”^{४२}

अतः देश की प्रगति के लिए श्री गुरुजी ने समझाया कि एकात्मता के अधिष्ठान पर, स्वार्थरहित, संग्रहविरत, समाज समर्पित व्यक्तियों का विकास करते हुए उन सभी व्यक्तियों में जागृत इस भावना से कि मनुष्य-समुदाय का जीवन एक ही अस्तित्व से अनुप्राणित है, समाज की सुखी उत्कर्षमय अवस्था निर्माण करने के लिए प्रयत्नरत होना हम सबका कर्तव्य है।”^{४३}

अपने शाश्वत सिद्धान्तों के आधार पर मौलिक चिन्तन की आवश्यकता पर बल देते हुए श्रीगुरुजी ने कहा है कि, “अपनी भारतीय प्रणाली में जिसे ‘अर्थशास्त्र’ कहते हैं, उसमें आज जैसा केवल आर्थिक पहलू मात्र नहीं था। हमारे यहाँ अर्थशास्त्र का ही दूसरा नाम ‘नीतिशास्त्र’ था। आज हमें अपने सिद्धान्तों के आधार पर मौलिक चिन्तन करना चाहिए। हम दुनिया भर के विचार प्रवाहों

४४. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -१२५

४५. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० २८५-८६

४६. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० -२८७

को परखेंगे तथा अपनी स्वतंत्र मौलिक राष्ट्रीय चिन्तनधारा के अनुरूप अपना रास्ता अपनायेंगे। उदाहरण के लिए महात्मा गांधीजी ने अपने जीवन काल में सम्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के लिए ट्रस्टीशिप का मार्ग प्रतिपादित किया। उनके इस ट्रस्टीशिप के विचार में माना गया है कि मनुष्य के उत्पादन सामर्थ्य में कोई कमी करने की जरूरत नहीं। जीविका के साधनों द्वारा जितना चाहें, उसे उत्पादन करने दो, परन्तु संग्रह का वह अधिकारी नहीं है। जीविका के साधनों का प्रयोग करने पर जो सम्पत्ति एकत्रित होती है, वह समाज की है, अपने उपभोग बढ़ाने के लिए नहीं। वह सम्पत्ति उसने समाज को दे देनी चाहिए।^{४७} संतुलित चिन्तन एवं संतुलित रचना पर जोर देते हुए श्रीगुरुजी ने कहा है-“हमें ऐसे संतुलन की खोज करनी होगी, जो व्यक्तिगत अभिरुचि को जीवंत बनाये रखे और साथ ही साथ उत्पादित सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण भी किया जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें व्यक्ति पर अंकुश लगाने होंगे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इतना संकुचित अर्थ नहीं दिया जा सकता कि जिससे आम समाज के हितों की ही हानि हो। संपत्ति के किंचित संचय और उपभोग की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कतिपय सीमाओं में इस ढंग से मर्यादित करना होगा कि समाज के शेष लोगों की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित हो सके तथा सम्पन्न व सुखी भौतिक जीवन के समान अवसर सभी को उपलब्ध हो सकें।”^{४८}

“हिन्दू जीवन दृष्टि की पृष्ठभूमि में ही संतुलन बना सकना संभव है। व्यक्ति को अपनी व अपने परिवार की आवश्यकताओं व दायित्वों की पूर्ति हेतु संपत्ति के अधिकार का आश्वासन दिया जा सकता है। संपत्ति का अधिकार भी मर्यादित होना चाहिए, अर्थात् सुखोपभोग को निश्चित सीमा के भीतर पूर्ण करने की स्वतंत्रता के साथ ही समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के दायित्वों का अनुबन्ध भी आवश्यक है। इस प्रकार अर्थनीति की एक मोटी रूपरेखा खींची जा सकती है, जो वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति के प्रोत्साहन को बनाये रखे तथा विकेन्द्रीकरण की सम्यक् प्रणाली को सुनिश्चित कर सके।”^{४९}

४७. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृ० ३०७-३०६ ; खण्ड ११, पृ० ३५-३६

४८. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ११, पृ० ३-६

४९. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ११, पृ० ३७

श्रीगुरुजी के आर्थिक विषयों पर कुछ अन्य स्फुट विचार

१. श्री गुरुजी ने बताया कि देश में बड़े-बड़े कारखानों, बाँधों एवं अन्य विकास योजनाओं के लिए करों में भारी वृद्धि, निजी उद्योगों पर बलात् अधिकार एवं विदेशी ऋण लेकर धन जुटाया जा रहा है। विदेशी उद्योगपतियों तथा विदेशी विशेषज्ञों को कारखाना खोलने की अनुमति प्रदान करके औद्योगिक प्रगति का दिखावा किया जा रहा है। विकास के नाम पर चलने वाली योजनाओं पर धन का बड़ी मात्रा में अपव्यय हो रहा है। पुरानी मशीनों को बड़े-बड़े मूल्यों पर खरीदा जा रहा है। कार्य में लापरवाही बरती जा रही है। इतना ही नहीं; योजना करने वाले विशेषकर बड़े-बड़े अधिकारियों द्वारा धन का अपहरण किया जा रहा है।^{५०}

2. भारतीयत्व से विहीन तंत्र तो पारतंत्र्य ही है

अपनी बुद्धि को अन्य देशों के संस्कारों की दासता से मुक्त रखकर अपनी ही इच्छानुसार अपनेपन की भावना से युक्त जीवन का विकास करने के तंत्र को 'स्वतंत्र' कहते हैं। परन्तु अपने इतिहास को, अपने भारतीयत्व को तथा अपनेपन के अभिमान को भुलाकर, परकीय बुद्धि के दास बनकर, अन्य समाजों से स्फूर्ति प्राप्त करके निर्माण किया हुआ तंत्र तो स्वतंत्र न होकर पर-तंत्र ही होगा। रूस के आदर्शों के आधार पर निर्मित तंत्र 'रूस-तंत्र' इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों की प्रेरणा से बना तंत्र 'इंग्लैंड-तंत्र' और अमेरिका के फेडरेशन को देखकर बनाया तंत्र 'अमेरिकन-तंत्र' होगा, 'स्व-तंत्र' नहीं।^{५१}

3. अन्न संकट और निदान

खाद्यान्न संकट को ही लें। हम यह विचार क्यों नहीं करते कि जो कुछ हम पाते हैं, उसमें से एक कौर जरूरतमंद को भी दें। अर्थात् अपना भोजन मिल-बाँटकर खाने के लिए तैयार हों। हमारी परम्परा में गृहस्थ का कर्तव्य है कि भोजन तैयार हो जाने पर जिसको भोजन की आवश्यकता हो, उसे सम्मान के साथ घर लाकर संतुष्ट करें और शेष बचे को भगवान का प्रसाद मानकर ग्रहण करें।^{५२}

५०. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ३, पृ० ११३-११७

५१. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ३, पृ० १५२-१५४

५२. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ३, पृ० -२५८

4. ग्राम स्वावलंबन

विदेशों से आने वाली सहायता अथवा यंत्रों पर निर्भर रहकर हम अपने देश का विकास नहीं कर सकते (भिक्षापात्र अवलंबिणे, जलो जिणे लाजिरवाणे)। भिक्षापात्र का अवलंबन और लज्जाजनक जीवन-यह अपने साधु-संतों की सीख नहीं है। गाँव के ही लोग स्वयं के पैरों पर खड़े हों और अपने गाँव की उन्नति के लिए यत्न करें, यही श्रेष्ठ है।^{५३}

5. कृषि के बारे में पाश्चात्यों के अनुभव

प्रथम महायुद्ध के समय अनाज की पैदावार बढ़ाने के लिए इंग्लैंड ने समूची भूमि जोत डाली। प्रारम्भ में पैदावार बढ़ी, किन्तु कुछ समय बाद भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो गई। अतः उन्हें पुनः गोचर-भूमि छोड़नी पड़ी। अमेरिका में खेती की जाँच करने पर पाया गया कि कृत्रिम खाद के अधिक उपयोग से खेतों की उर्वरा शक्ति कम हो गई। खेत मरुभूमि में बदल गये, भूमि क्षारमय हो गई। तब ध्यान में आया कि गाय-बैल के गोबर से पैदावार भी बढ़ती है और भूमि की उर्वरा शक्ति भी कायम रहती है।^{५४}

6. सच्चा यज्ञ

हमारे समाज में अनेक बन्धु हैं, जिन्हें रोजाना भोजन नहीं मिल पाता। प्राचीन काल में 'बलि वैश्व देव' यज्ञ हुआ करते थे। इन यज्ञों में पहले भूखे लोगों को भोजन कराया जाता था, उसके पश्चात् ही अन्य लोग भोजन करते थे। आज हम प्रत्येक दिन मुट्टी भर अनाज समाज के व्यक्तियों के लिए इकट्ठा कर सकते हैं। हमें वैसा करना भी चाहिए। यही सच्चा 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' होगा।^{५५}

7. गरीबी-उन्मूलन का उपाय

गरीबी दूर करने के बारे में नारे लगते हैं, घोषणाएँ होती हैं। पर इससे क्या गरीबी दूर हो जायेगी? गरीबी दूर कैसे होगी और कौन करेगा? यह नहीं बताया जाता। इस समस्या का हल तभी संभव है, जब देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को नियंत्रित कर, देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए ईमानदारी से कठोर परिश्रम करेगा। व्यक्ति-व्यक्ति में यह दृढ़ भाव जगाना होगा कि यह मेरा देश

५३. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृ० १३-१४

५४. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृ० ६५-६८

५५. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृ० ६२

है। मैं इसकी दरिद्रता देख नहीं सकता। इसे दूर करने के लिए मैं स्वार्थरहित होकर प्राथमिकता से कठोर परिश्रम करूँगा, इसकी सम्पत्ति बढ़ाऊँगा।^{५६}

8. लाभ और वितरण पर नियंत्रण

राजसत्ता और द्रव्योत्पादन- दोनों को विलग करने की दक्षता हिन्दू संस्कृति ने ली है। धन एक शक्ति है। राजसत्ता और द्रव्योत्पादन के साधन एकत्र होने पर कितनी उन्नतता उत्पन्न हो सकती है, यह कोई भी समझ सकता है। एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह में दोनों शक्तियों के केन्द्रित हो जाने से शेष समाज का सर्वथा दीन एवं गुलाम होकर पतित हो जाना अथवा अत्याचार की चक्की में पीसे जाने के कारण चिढ़कर विद्रोही बन जाना और उस कारण समाज की शांति तथा सुख का नाश हो जाना स्वाभाविक है।

इस विप्लवावस्था से समाज को बचाकर चिरशांति देने हेतु राजसत्ता को धनहीन और धन युक्त व्यक्ति को सत्ताहीन और दोनों को परस्परावलंबी व अन्योन्याश्रित करके दोनों पर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष व्यक्तियों का न्यायपूर्ण नियंत्रण स्थापित कर अपनी समाज-रचना में हिन्दू संस्कृति ने यह सुव्यवस्था करने की चेष्टा की कि सत्ताधारी या धनवान में से कोई भी बाकी के समाज से अन्यायपूर्ण व्यवहार कर उसे दुःखी न कर सके।^{५७}

10. प्रश्न-भारतीय परिस्थिति के अनुकूल औद्योगिकरण का प्राश्न क्या होना चाहिए?

श्री गुरुजी का उत्तर- लघु व गृह उद्योगों का सर्वत्र प्रसार होना चाहिए, जो बड़े औद्योगिक केन्द्रों को उपकरण, साधन उपलब्ध कराने वाले हों। जापान की औद्योगिक रचना इसी प्रकार की है।

इसी से कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में समन्वय स्थापित किया जा सकता है और देहात व शहरी क्षेत्र में जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह कम करने में भी सहायता होगी।^{५८}

५६. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५ पृ० २६३-२६४

५७. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृ० ८६-९०

५८. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ६, पृ० -५३

11. प्रश्न-आजकल औद्योगिकरण देश के विकास को आँकने का मापदण्ड बन गया है। क्या यह उचित है?

श्री गुरुजी का उत्तर- यही कारण है कि दुनिया आज संघर्ष और युद्ध के मार्ग पर चल पड़ी है। अतिरिक्त उत्पादन की बिक्री के लिए दूसरे देशों को बाजार बनाने की स्पर्धा एक स्थिति के बाद संघर्ष में बदल जाती है और कभी-कभी युद्ध भी अनिवार्य हो जाते हैं। दूसरे, मशीनों के उपयोग के कारण मनुष्य बेरोजगार होने लगा है, ऐसा नहीं होना चाहिए। बहुविध वस्तुओं की माँग निर्माण करना, उनके निर्माण में अधिक आधुनिक मशीनों का उपयोग करना, इन पाश्चात्य विचारों के कारण मनुष्य मशीन का गुलाम बन जायेगा।^{५६}

५६. श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ६, पृ० -५६
